जीवन के गान

जीवन के गान

श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'

1991
आत्माराम एण्ड संस
दिल्ली लखनऊ

JEEVAN KE GAAN
by Shri ShivMangal Singh 'Suman'

प्रकाशक :
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

शाखा :
17, अशोक मार्ग, लखनऊ

ISBN : 81-7043-184-0

मूल्य : चालीस रुपये

संस्करण : 1991

मुद्रक :
चोपड़ा प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-32

दाऊ को

क्या हार मे क्या जीत में
किंचित नही भयभीत में
संघर्ष पथ पर जो मिले यह भी सही वह भी सही
वरदान मांगूंगा नहीं

संयोजनार्थ

'जीवन के गान' का संस्करण बड़े विलंब से निकल रहा है। मेरे ही प्रसाद और दीर्घसूचीपन का दयनीय नमूना। पहली वाली लंबी भूमिका अब तो असंगत लगती है। उसमे मैंने जो लम्बी-चौड़ी बातें की थी, उनकी आंशिक पूर्ति भी नहीं कर पाया। सर्जक को व्यर्थ की शान नहीं हाँकनी चाहिए। साहित्य में बड़े-बड़े बड़बोले आलोचकों, सर्जक महारथियों और युगांतरकारी आत्मकथा के दावेदारों को एक ही आघात मे ढेर होते देख चुका हूँ। सन् 1937 से 1940 के बीच की कृति होने से, इस संग्रह में राष्ट्र के अप्रतिहत संघर्षों की जो छाप सहज भाव से पड़ गई है, वह अपनी जगह चुस्त-दुरुस्त है। मुगालते की सीमा तो यही समझ लीजिए कि इस काल में मैं अपने को मुक्तिबोध से बड़ा कवि समझने लगा था क्योंकि तब तक मैं 'हंस और विशाल भारत' में छपने लगा था। इसके पूर्व मेरा एक काव्य संग्रह 'हिल्लोल' भी प्रकाशित हो चुका था और मुक्तिबोध की एक भी पुस्तक प्रकाशित नही हुई थी। आज देखता हूँ तो मैं कही नही हूँ और मुक्तिबोध अपनी जगह है, युगप्रवर्तक और निराला के बाद सबसे अधिक चर्चित कवि। इस आत्मस्वीकृति का यह अर्थ कतई नहीं है कि यह संग्रह सारहीन है। प्रत्युत इसकी कई कविताएँ तो प्रार्थना सभाओं में गाई गई हैं, यथा—वरदान मांगूंगा नहीं।

सौ बात की बात तो यह है कि जहाँ ज्वलंत संघर्ष जीवंत अनुभूतियों का अंग बनकर मार्मिक संवेदनशीलता से सिक्त हो सका है वहाँ वह अपनी अनगढ़ता में भी ऊर्ज्वसित हो उठा है। मार्मिक अनुभूति हीन कोरा बातूनीपन तो भूसे की तरह अपने हल्केपन के कारण ही हवा में उड जाता है। चार दशक की परीक्षण-अवधि तो नितांत नगण्य नहीं कही जा सकती। इसी कसौटी के लिए यह संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है जिससे समय-समय पर अपनी औकात का आभास मिलता रहे।

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

कुछ कहना आवश्यक था इसलिए

आज जीवन के जिन उपकरणों के बीच हमारा साहित्य दमा के मरीज़ के अस्वस्थ श्वासवेग के समान हाँफता-हाँफता आगे बढ रहा है, उनके प्रति हमें अपनी ज़िम्मेदारियों को समझ लेना नितान्त आवश्यक हो जाता है। शाश्वत सत्यों का डंका पीटकर जीवन की वास्तविकता से आँखें मूंद लेना हमारी कायर मनोवृत्ति का ही द्योतक नहीं वरन् समाज को और साथ-ही-साथ अपने को भी धोखे मे डाल रखने की प्रवृत्ति का परिचायक है।

मैं मानता हूँ कि जीवन मे रोटी ही सब कुछ नही है। परन्तु यह भी मानना होगा कि बिना रोटी के ऊँची-ऊँची बातें करना, काल्पनिक व्योम के पखेरू बनना तथा सत्यं एवं सुन्दरं के स्वर मुखरित करना अधिक काल तक सम्भव नहीं हो पाता। असली बात तो यह है कि हमारे साहित्यिक, जो प्रायः अधिकांश मध्यम वर्ग के हैं, किसी-न-किसी प्रकार पेट भर खाना पा ही जाते हैं, अतएव अपने अकर्मण्य अवकाश का उपयोग वे मानसिक कलाबाजियाँ दिखाने में ही किया करते हैं और इन्हीं को फिर वे कला के भिन्न-भिन्न आदर्श निर्धारित कर समर्थन करने का प्रयत्न करते हैं।

ऊपर-ऊपर से यह कहना किसी प्रकार माना भी सकता है कि हमारी विचार-धारा केवल आर्थिक भूमि पर ही अविलम्बित नहीं है। क्योंकि हमारी आर्थिक परिस्थितियों का प्रभाव पहिले हमारी भाव-चेतना पर पड़ता है और भाव-चेतना का सामाजिक चेतना से उतना ही अविच्छिन्न सम्बन्ध है जितना व्यक्ति का और समाज का और फिर इसी सामाजिक-चेतना की क्रिया-प्रक्रिया हमारे सारे वातावरण तथा राजनीतिक जीवन को प्रभावित करती रहती है, यहाँ तक कि धीरे-धीरे वह हमारी मूलभूत आर्थिक परिस्थितियों को ही परिवर्तित कर देती है।

गत्यात्मक भौतिकवाद : डायलेक्टिकल मैटीरियलिज़म को भला-बुरा कहने वाले जीवन और अन्तर्चेतना की इस क्रिया-प्रक्रिया की ओर से अपनी आँखें ही

मूंद लेते हैं। साहित्य को नैसर्गिकता का जामा पहनकर उसे जीवन से परे मानने वाले महानुभाव या तो अपनी आत्मचेतना को मृत्यु के घाट उतार चुके हैं अथवा उनके दृष्टिकोण में किसी वैज्ञानिक विचारधारा का अभाव अवश्य है। मैं कहता हूँ कि इस प्रकार की हवाई बातें करने में आप अपने तलवे के नीचे मिट्टी को कभी वायवी न बना सकेंगे—वह बड़ी कठोर और ठोस है—हाँ, आँख मूंदकर अलादीन के चिराग की कल्पना भले ही कर सकते हैं।

बात यह है कि हमारा कवि-समाज सदैव मध्यम-वर्ग की भूमि पर ही पनपा है। निदान उस वर्ग की सारी भलाइयों-बुराइयों का उसे शिकार भी बनना पड़ा है। आज मध्यम वर्ग से दयनीय कोई वर्ग नहीं। वह उच्च वर्ग का—जिसकी ओर उसकी टकटकी लगी हुई है—प्राणी बनने में रहा, और निम्न वर्ग से आत्मसात् हो जाना उसे स्वीकार नहीं। अतएव अतिशप्त त्रिशंकु की भाँति वह बेचारा न जमीन का ही रहा और न आसमान का ही। ऐसी स्थिति में पग-पग पर अपने काल्पनिक संसार को ढहते देखकर या तो वह निराशावाद की पुकार मचाता है अथवा किसी ऐसे दूसरे लोक की खोज में निकल पड़ता है जिसमें जीवन की कठोर वास्तविकता का सामना न करना पड़े और वह क्षितिज-पार की अनंतता में लीन हो प्रिय और प्रियतम के शाश्वत मिलन का स्वप्न देखता रहे।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में हमारी इस मानसिक विच्छिन्नता का स्वरूप पूर्ण-रूपेण प्रत्यक्ष हो गया है। आज के छोटे-से लेकर बड़े-से-बड़े कवियों की रचनाओं को यदि सामाजिक पृष्ठ-भूमि पर सामाजिक नियमों के अनुसार परखने की जुरअत की जाय तो वे फौरन ही फ़रमाने लगेंगे कि भाई मेरी रचनाएँ तो विशेष भावावेश में की हुई अभिव्यक्ति का स्वरूप हैं, उनके व्यक्तीकरण के समय मुझे स्वयं के अस्तित्व का ही भान नहीं रहता; अथवा यह कि वे किसी अलौकिक शक्ति द्वारा प्रेरित भावनाएँ हैं जिनसे मेरा और मेरी कलम का तो केवल कार्य-कारण सम्बन्ध है, अतएव बौद्धिक मापदण्ड से उनकी भलाई-बुराई का निराकरण कैसे सम्भव हो सकता है, वे तो अनुभूति की वस्तु हैं—गूँगे का गुड़ हैं।

यदि तनिक देर के लिए इस बहाने को स्वीकार भी कर लिया जाय तो भी यदाकदा भूमिकाओं अथवा लेखों में व्यक्त उनके कला-विषयक विचारों पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि उनसे उनके दर्शन-स्रष्टा होने तथा सौन्दर्य-बोध के भिन्न-भिन्न कला-मूल्यों का कुछ-कुछ पता लग जाता है। पहली बात जो प्रायः सभी में प्रमुख मालूम पड़ती है वह यह है कि कवि जीवन के शाश्वत सत्यों को वाणी देने का प्रयत्न कर रहा है। दूसरे, मौलिकता का भूत उनके सिर पर इतनी सख्ती से सवार रहता है कि वे कोई-न-कोई नई विचार-धारा प्रवर्तित करने के लिए सदैव उतावले रहते हैं। वे तो सभी नूतन-विचारों के के स्रष्टा तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के कला-मूल्यों के पारखी मालूम पड़ते हैं।

कुछ कहना आवश्यक था इसलिए

कोई कहता है: 'कला तो एक प्रकार की
चित्-आनन्दमयी अनुभूति है, इसे कोई
आगे भी उसका विचार निर्बंध रहने का है।' दूसरे कवि का कहना है कि 'जो कला भौतिक उपकरणों से जितनी अधिक स्वतन्त्र होकर भावों की अधिकाधिक व्यंजना में समर्थ हो सकेगी वह उतनी ही अधिक श्रेष्ठ समझी जायगी।'

इसी प्रकार कोई सत्य, शिव और सुन्दर के समन्वय को; कोई अर्द्धनारीश्वर रूप को; कोई अन्तर्जगत की व्यक्त भावना को तथा कोई परमात्मा में लीन होने को उत्सुक आत्मा की श्वासि-श्वासि की पुकार को ही कला का जामा पहनाकर सन्तोष प्राप्त करना चाहता है। इन सबसे उपरोक्त कथन तो बिल्कुल साफ हो जाता है कि प्रत्येक कवि ने सौन्दर्य और कला-विषयक अपनी अलग-अलग धारणाएँ स्थापित कर ली हैं। कम-से-कम उनका यह विचार तो अवश्य ही रहा है कि उनकी स्थापना सर्वथा मौलिक है, सार्वजनीन और सार्वकालिक है। एक कवि दूसरे की स्थापना को स्वीकार नहीं करना चाहता, सभी अपना-अपना अलग मार्ग निर्धारित करने में संलग्न हैं, क्योंकि वे यह स्वीकार नहीं करना चाहते कि आधुनिक हिन्दी-काव्य में एक विचार और भावसाम्य है जिसके सामाजिक कारण हैं।

इस प्रकार क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की ही तरह प्रत्येक कवि अपने हृदय के साँचे में ढाल-ढालकर भावनाओं, चित्रों और कल्पनाओं के नये-नये स्वरूप संसार के समक्ष उपस्थित करता रहता है। परन्तु यह विचार-धारा साहित्य-संसार के लिए कुछ नई नहीं है। सन्तोष है कि स्वर्गीय आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल अपने इन्दौरवाले भाषण में इस वितण्डावाद की सारी पोल खोल गए हैं। क्रोचे के अनुसार इन भावनाओं तथा कल्पनाओं को आत्मा की अपनी क्रिया मानकर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की बात पर स्वर्गीय शुक्ल जी एक स्थान पर लिखते हैं कि 'दार्शनिकता का यह एक मजहबी पुट कि मूर्त्त भावना या कल्पना आत्मा की अपनी क्रिया है यह तो केवल आवश्यकता पड़ने पर अनिर्वचनीय का सहारा लेने के लिए किया गया है। जिसे क्रोचे आत्मा के कारखाने से निकाले हुए रूप कहता है वे वास्तव में बाह्य जगत से प्राप्त किए हुए रूप हैं। इन्द्रिय ज्ञान के जो संस्कार (छाप) मन में संचित रहते हैं वे ही कभी बुद्धि के धक्के से, कभी भाव के धक्के से, कभी योंही भिन्न-भिन्न ढंग से अन्वित होकर जगा करते हैं। यही मूर्त्त भावना या कल्पना है। यह अन्विति या योजना बाह्य जगत से प्राप्त रूपों के समाहार के ढंग पर होती है, जिसमें एक-एक रूप की सत्ता अलग-अलग बनी रहती है। इस अन्विति-रूप समूह को आध्यात्मिक साँचा कहना और पृथक-पृथक रूपों को उस साँचे में भरा जानेवाला मसाला बनाना वितण्डावाद के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है। किसी साँचे में जो वस्तुएँ भरी जाएँगी वे घुल-पिसकर गीली मिट्टी का गारा हो जाएँगी, उनके पृथक-पृथक रूप कहाँ रह जाएँगे, पर कल्पना

में जो रूप समष्टि खड़ी होती है उसके अन्तर्भूत रूपों की अलग-अलग प्रतीति होती है।'

हाँ तो एक तो हमारे कवि समाज के स्रष्टा तथा सौन्दर्य-बोध के विभिन्न मूल्यों के जनक होने की बात हुई। दूसरे इस आत्म-प्रवंचना से अहंकार-ग्रस्त यह कवि-समाज जब अपनी रचनाओं को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता है तब उसकी वाणी में विलक्षण गति से विनम्रता उत्पन्न हो जाती है। कोई कवि अपनी रचनाओं को बचपन की तुतली चेष्टा समझता है, तो कोई यह लिखता है कि उसने अपनी कविताएँ अपना हाथ साधने के लिए अभ्यास रूप में लिखी थीं, अतएव उनमे पाठको का ध्यान आकर्षित करने की सामर्थ्य होगी इसमें उसे विश्वास नहीं है। कोई कवि 'नर-नारी से भरे जगत में कवि का हृदय अकेला' कहकर यह प्रकट करना चाहता है कि उसकी रचना मे एक ऐसे एकाकी कवि के उद्‌गार हैं जिसे समाज ने आदृत नही किया है। अतः उसे विशेष सहृदय सहानुभूति से पढ़ना चाहिए। मैंने स्वयं हिल्लोल की भूमिका मे इन दोनों विपरीत अवस्थाओं की यह कहकर अभिव्यक्ति की थी कि 'जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशापूर्ण क्षणों में प्राणों को मथकर जो भी अर्धस्फुट तुतले शब्द आवेशवश अथवा स्वभावतः निकल पड़े हैं बिना किसी आवरण के आपके समक्ष प्रस्तुत है, कवि होने का दावा करने का मैं दुस्साहस नही कर सकता।' पाठक देखेंगे कि इसमें दो बातें उल्लेखनीय हैं कि अपने सुख-दुख के क्षणों में प्राणो को मथकर मैंने जो अभिव्यक्ति की वह कोई सचेत क्रिया नही है; अन्ध-आवेश-मात्र है। दूसरे इस मन्थन से जो नवनीत मैंने संसार को दिया उसके प्रति आत्मविश्वास से यह नही कह पाया कि वह अमृत था या गरल, सुन्दर था या असुन्दर। प्रत्युत अपनी वाणी को अर्धस्फुट या तुतली तथा अपने कवि के दावे को दुस्साहस कहकर मैंने पाठकों की सहानुभूति की भिक्षा ही माँगी है। अतः यह विचारणीय है कि हमारे इन कवियों—उनमे एक मैं भी रहा हूँ—के दृष्टिकोण मे एक साथ ही सृष्टिकर्त्ता का आत्मगौरव तथा अपनी शिशुतुल्य निर्बोधता का सीमाज्ञान, विश्वास और अविश्वास दोनो क्यो हैं? क्यों हमारे कवि अपनी रचनाओं का ज़िक्र करते समय सिद्धान्त प्रतिपादन का मानदण्ड त्यागकर अपनी उन मानसिक परिस्थितियों का हवाला देने लगते हैं जिनके प्रति अनायास ही हमारे भद्र-समाज की सहानुभूति—मौखिक ही सही—जागृत हो उठती है? क्यो वे एक ओर प्रगतिवाद अथवा अन्य बुद्धिगम्य समाज-दर्शनो को अपने सिद्धान्तो की विश्वजनीनता और चिरन्तनता प्रमाणित कर चुनौती देते हैं और दूसरी ओर पाठकों की अनुकम्पा की भिक्षा माँगकर अपने प्रति सदय होने की लुकी-छिपी आकांक्षा सँजोया करते हैं? इन सबकी तह मे जो मनोवृत्ति है वह विश्लेषणीय है।

मेरा विचार है कि इस विरोधाभास का कारण व्यक्तिगत ही नही सामाजिक

भी है। केवल फ्रायड के सिद्धान्तों के अनुसार लेखक की मानसिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर इस समस्या को नहीं सुलझाया जा सकता। क्योंकि आज कोई भी लेखक अपनी मौलिकता की चाहे जितनी डींग हाँके मूल में उनके दृष्टिकोण में समानरूपकता प्रत्यक्ष है और वह है उनका आदर्शवादी तथा व्यक्तिवादी स्वरूप। साथ ही सभी अपने बारे में विशेष अनिश्चित से हैं। किसी को अपने अगले क़दम का भरोसा नहीं है। यह प्रश्न व्यक्ति का नहीं, काल और समाजगत पूरे समूह का है। यहाँ आदर्शवाद शब्द का प्रयोग मैं दार्शनिक अर्थ में कर रहा हूँ प्रचलित मे नहीं।

अतः इस विश्रृंखलता को समझने के लिए हमें अपनी सामाजिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि किसी भी लेखक की रचना में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में उस समाज की प्रतिच्छाया जिसमें कि वह रह रहा है अवश्य पड़ती है। गोस्वामी तुलसीदास, शेक्सपियर या टॉल्स-टॉय की रचनाओं में हम उनके समकालीन समाज का जितना विशद कलात्मक चित्रण पाते हैं उतना अन्यत्र कहीं मिल सकना दुर्लभ ही है। आज का कवि जीवन से हताश होकर जब अपने ही हाथों अपने ऊपर अँगारे रखने लगता है अथवा स्वप्न में ही प्रिय को बाँध लेना चाहता है तब वह एक ऐसी भाषा बोलता है जिसे हमें और आपको समझना होगा। उसके जीवन में पराजयवाद तथा अनन्त और असीम के आलिंगन का भाव यों ही नहीं जाग पड़ा है। यह भावना इस संक्रमण-काल की ही देन है। आज एक युग की संस्कृति जीर्ण-शीर्ण हो नष्ट-प्राय हो रही है, किन्तु उसके प्रति अभी हमारा मोह बाकी है और यह मोह हमें आगत युग की नवोन्मेषी संस्कृति को अपनी भाव-चेतना में ग्रहण करने से विमुख कर रहा है। इस नूतन संस्कृति में पुरातन अपने अभिनव रूप में जीवित ही रहेगा किन्तु हमारा मोह उसके जर्जर कंकाल को ही सुरक्षित रखना चाहता है। यही कारण है कि हम नूतन के आमन्त्रण को ठुकराते हैं। पुरानी रूढ़ियों, रस्म-रिवाजों तथा विचारों के खण्डहरों के नीचे खड़े हो अश्रु बहा रहे हैं और उस नवीन स्नेहयुक्त समतापूर्ण जीवन की ओर दृष्टिपात करने से जी चुराते हैं जिसका निर्माण आज की मानवता अपने रक्त-मांस की बलि देकर कर रही है और इस संघर्ष का कहीं अन्त होता दिखाई नहीं देता। लेकिन युद्ध की विभीषिका से बचने के लिए जिस प्रकार साधारणजन एअर-रेड-शेल्टर्स की शरण लेते हैं उसी प्रकार सामाजिक शोषण की क्रूरताओं से बचने के लिए हमारे कवि स्वप्नलोक के शेल्टर्स बनाने में संलग्न हैं। पता नहीं इस बमबाजी के युग में हमारे कलाकारों के ये काल्पनिक कवच कहाँ तक टिक सकेंगे? तो भी हमारा कवि-वर्ग व्यक्तिवाद और आदर्शवाद की बालू के बोरे चारों ओर से खड़ा करने में लगा है। और यह न समझिए कि यह दुर्गति केवल आपकी ही हो रही है; आज पूँजीवादी संसार की सारी बौद्धिक

संस्कृति डांवाडोल है विश्व के प्रकाण्ड मनीषियों ने मौलिक जीवन से ही उपकरण लेकर इसे ही सत्ताहीन साबित करने का बीड़ा उठा लिया है। आइन्स्टाइन से लेकर एडिङ्टन, सर जेम्स जीन, फ्रायड आदि वैज्ञानिकों तथा डा० रिचार्ड्स, टी० एस० ईलियट, हर्बर्ट रीड आदि साहित्यालोचकों ने जीवन की कठोर वास्तविकता को न समझ पाने के कारण भौतिक जगत् के प्रति अस्ति-नास्ति का दृष्टिकोण विकसित कर डाला है। अतः आज केवल हमारी ही नहीं वरन् समस्त विश्व की संस्कृति संकटापन्न है। क्योंकि चाहे मानिए या नहीं, हमारे जीवन की अल्पतम घटनाएँ भी कुछ-न-कुछ महत्त्व अवश्य रखती हैं। आज जो बम के गोले गरज-गरजकर चारों ओर रौरवता का भीषण ताण्डव कर रहे हैं, उनकी भी एक भाषा है। मानवता का आपको आमन्त्रण है कि इन संकट-ग्रस्त परिस्थितियों से उसका परित्राण कीजिए, और यदि नहीं तो अपने लिए क्षितिज पार से भी दूर किसी तमसावृत प्रदेश में छिप जाने के लिए स्थान ढूंढ रखिए।

इस प्रकार कला के नाम पर अपनी विलासिता को आश्रय देने का अब ज़माना नहीं रहा। अब तो नवीन जी के शब्दों में—'कला को सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक जागृति का शकट-मात्र ही क्यों बनाया जाए?' अथवा कवि दिनकर के शब्दों में, 'केवल भाड़े पर लिखी हुई चीज़ें रोटी का राग और साम्यवाद के गीत बिल्कुल असत्य हैं क्योंकि उनमें अनुभूति का दाह नहीं है, क्योंकि वे समय की फ़रमाइश पर नाचने को आई हैं···क्या वर्गहीन समाज के लोग प्रेम और विरह, तृष्णा और वासना, राग और मोह, रूप के बाण और आध्यात्मिक चिन्ताओं से परे हो जाएँगे?'—कहकर प्रगतिवाद का मज़ाक नहीं उड़ाया जा सकता। पहले तो उपरोक्त कविद्वय ने प्रगतिवाद को जोकि इस संकट-ग्रस्त संस्कृति की समस्या को हल करने में सबसे अधिक वैज्ञानिक भी है समझा ही नहीं है; दूसरे उन्होंने कुछ ऐसे आरोप किए हैं जिनका प्रगतिवाद की विचार-धारा से कोई तारतम्य नहीं दिखलाई पड़ता। विश्वास कीजिए, प्रगतिवादी साहित्य को न आर्थिक या राजनीतिक जागृति का शकट-मात्र बनाना चाहते हैं और न वे भाड़े पर साहित्य की रचना ही करते हैं। (आश्चर्य है कि दिनकरजी के दिमाग़ में यह विचार कहाँ से उत्पन्न हो गए, वे तो स्वयं प्रगतिवादी होने का दावा करते हैं, उन्होंने स्वयं रोटी के राग तथा साम्यवाद पर अनेकों रचनाएँ की हैं—और मेरा विश्वास भी है कि वे सब उन्होंने भाड़े पर नहीं की हैं।) सबसे बड़ा आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रगतिवादी होकर भी वे अभी तक वर्गहीन समाज के प्रेम-विषयक दृष्टिकोण के प्रति सन्दिग्ध हैं और प्रश्न-रूप में अपने संदेह को प्रकट कर जीवन की वास्तविकता से भागने वाले कवियों के हृदय में यह भ्रम और भी दृढ़ करने की कोशिश करते हैं कि प्रगतिवाद एक सामयिक धारा है। मैं अत्यन्त विनम्रता से पूछना चाहूँगा कि कौन-सी धारा सामयिक नहीं

रही है। प्रगतिवाद अवश्य एक सामयिक धारा है—उसी प्रकार जिस प्रकार भक्तिवाद, रीतिवाद तथा छायावाद। दूसरे, प्रगतिवाद ने यह कभी नहीं कहा कि प्रेम, विरह, तृष्णा, वासना आदि का जीवन में कोई मूल्य नहीं है अथवा इन भावों का उन्मूलन करके ही कोई प्रगतिवादी हो सकता है। निश्चय ही प्रगतिवाद के दृष्टिकोण को न समझने वाले ऐसी हल्की बातें कहकर उसकी खिल्ली उड़ाना चाहते हैं। वस्तुतः प्रगतिवाद कोई हौवा नहीं है जिससे चौंकने की इतनी आवश्यकता हो। और न यह कोई संप्रदाय-ग्रस्त वाद ही है। आज आपके प्राचीन जीवन के मूल्यों में जो परिवर्तन हो रहे हैं और जो जीवन के नवीन मूल्य निर्धारित किए जा रहे है उनका आप कुछ नाम तो अवश्य ही देंगे। मैं कहता हूँ उसे आप गतिशीलवाद, नवयुगवाद आदि कोई संज्ञा प्रदान कीजिए, मुझे आपत्ति न होगी। अतएव इस मानसिक विशृंखलता के सामाजिक कारण क्या हैं? एक शब्द में इसका सामाजिक कारण पूंजीवाद है। पूंजीवाद ने प्रतिष्ठित होने के साथ-साथ जिस निर्बन्ध स्वतन्त्रता का नारा लगाया था और समानता, स्वतन्त्रता तथा भाई-चारे—ईक्वालिटी, लिबर्टी एण्ड फ्रैटरनिटी—के नाम पर जो हमें अब तक बहका रक्खा था उस आश्वासन को उसने स्वयं वापस ले लिया है। अर्थशास्त्र की भाषा में कह सकते हैं कि उत्पादन के साधनों में उसने जो परिवर्तन और विकास करना प्रारम्भ किया था वह अब पूंजीवादी व्यवस्था के संकुचित दायरे में सीमित करके नहीं रखा जा सकता और उसे बाँध रखने की कोशिशों के फलस्वरूप फ़ैसिज्म, युद्ध तथा बेकारी को जन्म देकर पूंजीवाद स्वयं अपने हाथों अपनी चिता चुन चुका है। किन्तु पूंजीवाद ने इस कार्य के साथ-साथ जीवन और समाज की अपरिवर्तनशीलता, पूंजीवादी समाज-सम्बन्धों, सौन्दर्य-मूल्यों और नैतिक एवं दार्शनिक विचारों की अनित्यता के जो भ्रम अपने संक्रांति-काल में फैलाये हैं वे सर्वसाधारण—यहाँ तक कि कवि और लेखकों—की भाव-चेतना में पैठकर उसे अपने अनुकूल बना चुके है। यही कारण है कि जब हमारे कलाकार एक ओर तो कला के प्रति पूंजीवाद की उदासीनता तथा तिरस्कार-पूर्ण उपेक्षा पाते हैं और प्रत्यक्ष देखते हैं कि उन्हें भी व्यावसायिक चक्र में डालकर किस प्रकार हीन और दयनीय बनाया जा रहा है तथा दूसरी ओर जीवन की आर्थिक अनिश्चितता तथा प्रेम संवेदना, समानता आदि की कोमल भावनाओं को चारों ओर से शृंखलाबद्ध पाते हैं तब वे पूंजीवाद के आलोचक और विरोधी बन जाते है। परन्तु यह विरोध आत्मविश्वास और अन्तर्चेतना के अभाव में हास्यास्पद बन जाता है। कारण, समाज की नई शक्तियों, प्रेरणाओं तथा चेतनाओं से अनभिज्ञ होने के कारण वे पूंजीवादी बन्धनों को तोड़ सकने में असमर्थता का अनुभव करते है और उन्हें विधि-विधान का पर्याय मान लेते हैं। अतएव पूंजीवादी भ्रमों से आबद्ध होने के कारण वह अन्तर्मुखी तथा आत्मपेक्षी बन जाता है।

कुछ कहना आवश्यक था इसलिए

निदान ये साहित्य का जीवन से सम्बन्ध तोड़कर, मानसिक क्रियाओं से जोड़ लेते हैं और अमूर्त भावों की अतिरंजित अभिव्यक्ति द्वारा ही सत्साहित्य की सृष्टि करने का दावा करते हैं। इस अवस्था से प्रगतिवाद ही छुटकारा दिला सकता है। प्रगतिवाद हमारे बीच में कहीं बाहर से नहीं कूद पड़ा है वरन् हमारे समाज ने जो असंगतियाँ उत्पन्न की हैं उन्हीं के अन्दर से यह कोयनिया का बच्चा विश्व की अश्वत्थ डाल पर चहक उठा है। अतएव प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया-मात्र समझनेवाले सोचने में कहीं कुछ ग़लती अवश्य करते हैं। प्रतिक्रिया कहकर वे यह अर्थ निकालते हैं कि इस ज्वार के उतरने के बाद पुनः पूर्ववत् स्थिति हो जाएगी। इतिहास का यह पुनरावृत्ति का सिद्धांत आधुनिक विज्ञान और दर्शन भ्रांतिपूर्ण मानते हैं। हमारे सामाजिक विकास के अनुरूप ही जिस प्रकार रीतिकालीन दलदल से निकलकर कविता द्विवेदी-काल की इतिवृत्तात्मकता ग्रहण कर छायावाद के अभिनव रूप में प्रस्फुटित हुई उसी प्रकार छायावाद के बाद प्रगतिवाद का आना परम *स्वाभाविक तथा अवश्यम्भावी था। और कोई वाद इसका स्थान ले ही नहीं सकता* था। मानना होगा कि जीवन की दौड़ में यह हमारा अगला क़दम है।

अतएव प्रगतिवाद को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मैं यह कहूँगा कि प्रगतिवाद जीवन और साहित्य का नया दृष्टिकोण है। उसे अधिक सुबोध रूप में मैं यों रखने का प्रयत्न करूँगा कि (1) प्रगतिवाद साहित्य को चिरगत्यात्मक एवं परिवर्तनशील समाज का एक अभिन्न अंग मानता है। (2) वह समाज-सम्बन्धों में और सामाजिक कार्य में सौन्दर्य-तत्त्व की उद्भावना देखता है। (3) कार्य के लिए समाज की भावनाओं का संगठन करने के अपने पुराने गुण या तत्त्व को वह पुनः साहित्य की आत्मा के स्थान पर प्रतिष्ठित करता है। (4) सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के नाना रूपों की अभिव्यक्ति की तह में व्यक्त रागात्मक सहानुभूति समाज की उन शक्तियों के साथ रहती है जो जीवन को एक उच्च सुखमय सामूहिक और स्वतन्त्र धरातल पर संगठित करने की क्षमता रखती हैं। (5) उसकी शैली समाजवादी यथार्थवाद तथा समाजवादी रोमैन्टिसिज्म की शैली है। (6) उसका दार्शनिक आधार विरोधजन्य गतिशील भौतिकवाद है जो न केवल जीवन और प्रकृति की गतिविधि को समझने का सबसे विकसित वैज्ञानिक दर्शन है बल्कि उसे सचेत रूप से बदलने का एकमात्र उपाय भी है। इस प्रकार प्रगतिवाद की उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि अभी प्रगतिवादी साहित्य शैशवावस्था में है और उसके विकास में अनगिनती खामियाँ नज़र आती हैं। परन्तु इसकी बुनियाद पर यह सिद्धान्त तो प्रतिपादित नहीं किया जा सकता कि चूँकि सर के पीछे से हाथ घुमाकर नाक पकड़ने में एक कला है अतएव सीधे सामने से नाक पकड़ना साधारण कोटि का कार्य-व्यापार हुआ। यूँ पन्तजी की युगवाणी और ग्राम्या का उदाहरण इस धारणा के निर्मूलन के लिए पर्याप्त है।

प्रगतिवाद की मैंने ऊपर जो व्याख्या की

गान' पुस्तक श्रेष्ठ अथवा आदर्श ठहरेगी इसके लिए मेरे मस्तिष्क में कोई भ्रम नहीं है। मैं जानता हूँ कि वह इन विचारों से टक्कर लेने में समर्थ न हो सकेगी। उसमें प्रगतिशीलता कहाँ तक है इसका निर्णय तो आप ही करें। अपनी ही आलोचक बनकर मैं यह झूठा दावा नहीं करना चाहता कि रचना करते समय मेरी टकटकी शाश्वत सत्यों की ओर लगी हुई थी, तो भी मैं इस बात का कायल अवश्य हूँ कि किसी भी कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ कलाकार के मस्तिष्क में किसी भी प्रकार के वाद का फ़ितूर न होना चाहिए। परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं है कि जहाँ तक कला का सम्बन्ध रहा है मेरा और मेरे पारिपार्श्विक जीवन का लगाव केवल जल-कमलवत् था। क्योंकि अपने बाह्य-वातावरण से प्रभावित होने पर जो सरल अभिव्यक्ति कलाकार के हृदय से फूट निकलना चाहती है यदि उसे वह ईमानदारी से नहीं व्यक्त करता तो वह कला के प्रति नमकहलाली नहीं, नमकहरामी कर रहा है। क्योंकि हमारी परिस्थितियों का प्रभाव हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है और उससे हमारी भावचेतना का निरूपण होता रहता है। इन प्रभावों से उत्पन्न क्रिया-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप कला का जन्म होता है। तभी तो हम अपने साहित्य में रीतिकालीन, छायावादी, क्लैसिकल या रोमैन्टिसिज्म आदि विभिन्न विभाग स्थापित कर लेते हैं। प्रत्यक्ष है कि जिसकी जैसी भावचेतना होती है वैसी ही उसकी अभिव्यक्ति तथा शैली में अन्तर हो जाता है। अतएव यदि मेरी रचनाओं में प्रगतिवाद की सच्ची कसौटी पर खरी उतरने की क्षमता नहीं आ पाई है तो इसका यह तात्पर्य नहीं कि मेरा उपरोक्त कथन वाग्विलासमात्र था। इसे यूँ समझिए कि अभी मैं स्वयं उस खेमे में से निकल रहा हूँ जो चारों ओर से घोर निराशा, बेकारी और अनिश्चितता के वातावरण में जकड़ा हुआ है। मैंने अभी तक प्रेम में असफलता, मिलन में विरह की आशंका तथा सामाजिक विषमता के चक्करदार रहँट से ही अपने चारों ओर के संसार का अवलोकन किया है। अभी मेरी भाव-चेतना में नया दृष्टिकोण अपनी संपूर्णता के साथ घुल-मिलकर उसे पूरी तरह बदल नहीं पाया है। किन्तु अपरिपक्वता और अवचेतना को ही मन का चिरन्तन गुण मानना और उसका आश्रय लेकर प्रगतिवाद को व्यर्थ ठहराना मैं बिल्कुल ही अवैज्ञानिक समझता हूँ।

हमारे बदलते हुए समाज-सम्बन्धों तथा पुराने या अब तक के समाज-सम्बन्धों की चेतना से कलाकार के मस्तिष्क में जो तनातनी होती है, कला उसकी अभिव्यक्ति कहलाती है। 'कला-कला के लिए' की पुकार के समय हम इस बात पर ध्यान नहीं देते कि आज पूँजीवादी समाज की आत्मघातक व्यवस्था के कारण मनुष्य और मनुष्य के बीच के सारे कोमल सम्बन्ध नष्ट हो चुके हैं। दिखावे के लिए मनुष्य का सम्बन्ध धन और बाजार से है, मनुष्य से नहीं है; अर्थात् मनुष्य

स्वतन्त्र हैं, किन्तु है वह परतन्त्र। अप्रत्यक्ष रूप से पूँजीपति और मजदूर, शोषक और शोषित के रूप में यह सम्बन्ध जिस प्रकार कायम है उसकी विकराल क्रूरता को छिपाने के लिए ही धन और बाज़ार माध्यम बनाए गए हैं। और तो और, हमारी दिन-प्रति-दिन की प्रयुक्त भाषा ही इस विरूपता का बड़ा सुंदर उदाहरण उपस्थित करती है। ज़रा 'आप' और 'तू' पर विचार कीजिए, 'पधारिए' और 'बैठ जा बे' की संगति पर भी तो कला की अवधारणा करके देखिए। शायद हमारे कलाकारों की आँखें इन छोटी-छोटी बातों पर गौर करने के लिए नहीं बनाई गई है। हाँ तो कोमल भावनाओं से ओत-प्रोत सुकुमार कलाकार धन और बाज़ार की इस मध्यस्थता को न समझ पाने के कारण, अपने चारों ओर जब इन मधुर भावनाओं का लोप होता देखता है तो वह चेतना और बुद्धि के ही विरुद्ध कलमदण्ड लेकर दौड़ पड़ता है। इसी कारण हमारे बड़े-बड़े कलाकार, वर्तमान समाज की यह विभीषिका देखकर प्राचीन अर्ध-सभ्य समाज में शरण लेने के लिए व्यग्र हो उठते हैं और अपने स्वर्ण युग के गीत गा-गाकर ही किसी प्रकार सन्तोष प्राप्त करते हैं। परन्तु जो बीत चुका है उस पर रोने-गाने से आज तक क्या मिल पाया है, यह संसार आँख-कान से देख-सुनकर भी नहीं समझ पाया। खैर, यह तो व्यक्तिवादी प्रतिक्रिया हुई। सच्चे कलाकार का काम मनुष्य के सामाजिक संबंधों में कोमलता, एकात्मकता तथा संवेदनशीलता उत्पन्न कर समाज को नया जीवन प्रदान करना है—पुरातन में शरण लेने के लिए नहीं वरन् नवीन को प्रस्फुटित करने के लिए। नवीन अभी उत्पन्न नहीं हुआ है, किन्तु उसे उत्पन्न करने वाली शक्तियों का उद्‌भव हो चुका है। कलाकार का कर्त्तव्य है कि वह उस नवीन को उत्पन्न करने के लिए सामाजिक चेतना का संगठन करे। तभी इस भाव-जगत् के तनाव से श्रेष्ठ कला का जन्म होगा। प्रश्न अधिक उन्नत चेतना और एक नया दृष्टिकोण विकसित करने का और कला को समाज की नई शक्तियों के साथ प्राण-सम्बन्धित करने का है।

मुझे यह स्वीकार करने में किंचित भी आपत्ति नहीं है कि मैं अभी ऐसा नहीं कर पाया हूँ, किन्तु मेरा दृष्टिकोण विकसित हो रहा है यह पाठक 'हिल्लोल' और 'जीवन के गान' की तुलना करके देख सकते है। एक प्रकार से अभी मैं व्यक्तिवादी ही रहा हूँ। क्योंकि समाज की नई शक्तियों के साथ मैं कैसे एकात्मकता का अनुभव करूँ, यही मेरे सामने एक प्रश्न रहा है। 'हिल्लोल' के काल मे मुझे यह चेतना प्राप्त हुई थी कि—

> देखो वे तगे भिखमगे
> आए हैं नूतन वेष लिए
> अब तक की जर्जर जगती में
> नवयुग का नव-सन्देश लिए

अर्थात् मैं उस पूंजीवादी भ्रम को कि व्यक्ति जीवन की चेतना को खोकर स्वतन्त्र हो सकता है, छोड़कर श्रमिक वर्ग के सामूहिक संघर्ष में ही मनुष्य की स्वतन्त्रता का बीज देखने लग गया था। किन्तु इस संघर्ष के साथ मेरा सम्बन्ध केवल इतना था—

आओ उट्ठो देरी न करो
उनका स्वागत करना होगा
सुख शांति स्नेह, समभावों से
जग का अंचल भरना होगा

'जीवन के गान' में मैं जीवन-संघर्ष में दलित वर्ग की विजय-कामना कर दूर से बैठा स्वागत की तैयारियाँ करने वाला ही नही रहा हूँ। 'जीवन के गान' मे मुझे इतनी चेतना और मिली है कि मैं भी इस संघर्ष का एक अंग हूँ और उसमें सक्रिय भाग लेने के लिए, उसका अभिन्न अंग बनने के लिए मैं सजग हो उठा हूँ और यह उद्गार कि 'मेरा पथ मत रोको रानी; आज कवि कैसी निराशा; विद्रोह करो, विद्रोह करो' उस संघर्ष मे कूद पड़ने के पहले के संकल्प-विकल्पों के द्योतक हैं। प्रत्यक्ष है कि अभी मेरी वाणी उस संघर्ष को सक्रिय स्वरूप नही प्रदान कर सकी है, अतएव 'जीवन के गान' का अन्तिम गीत है—'अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ अपने जीवन गान'। अब तक तो यह एक गायक की स्वर-साधना मात्र थी, वास्तविकता गायन की तो अब प्रतीक्षा करनी चाहिए। संघर्ष की गत्यात्मक वास्तविकता के जीवन-चित्र तो अब मैं उपस्थित करने का प्रयत्न करूँगा। क्योंकि पुरानी मध्यवर्गीय मिथ्या कल्पनाओं और स्वप्नो को तोडकर अब मैं नई सृष्टि के स्वप्नों को कार्य रूप में परिणत करने वाली मानवता के सामूहिक कार्य में अपना योगदान देने का प्रयत्न कर रहा हूँ। कारण, फ्रांस के प्रसिद्ध मनीषी रोम्यारोलाँ के शब्दों में मेरा पूरा विश्वास है कि कोई भी विचार जो क्रियात्मक स्वरूप नहीं प्राप्त कर सकता या तो गर्भपात है या धोखेबाजी।

तो भी 'जीवन के गान' मेरे बहुत अपने हैं। आज के अनिश्चित नैराश्यपूर्ण जीवन में उनसे मुझे एक साथी का संबल प्राप्त हुआ है। आपको वे कैसे लगेंगे इसका निबटारा आप और 'जीवन के गान' स्वयं ही कर लें तो अच्छा हो। हाँ यदि एक भी गीत आपको कुछ सुख अथवा सन्तोष प्रदान कर सका तो साझीदार मुझे भी समझिएगा।

उपरोक्त विचारों को आपके सम्मुख उपस्थित कर सकने में मुझे श्री शिवदान सिंह चौहान की अमूल्य सम्मतियाँ प्राप्त हो सकी हैं, इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। उनके विचारों का मैं कायल हूँ और उनसे सहमत भी हूँ।

—शिवमंगलसिंह 'सुमन'

क्रम

यह मेरे जीवन के गाने	25
मैं पथ पर चलता जाता हूँ	26
आया है नूतन वर्ष सखे !	27
कैसा मधुर सुप्रभात था !	28
दो बातें करना पाप हुआ	30
दुख से ही मुझको प्यार मिला	31
क्या प्यार इसे ही मैं समझूँ ?	32
क्या आज मैं असफल हुआ ?	33
वरदान माँगूँगा नहीं	34
मैं तो निराश न हो सका	35
मुझको यह पाठ नहीं भाते	36
कब भूल मैं करता रहा	37
कब कौन अपनी कह सका ?	38
यह गति न मेरी बन्द हो	39
यह तो विप्लव की वेला है	41
लो आज बज उठी रणभेरी !	42
मानव बनो, मानव जरा	44
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !	45
मैं हूँ गुलाब का फूल सखे !	49
फूल का हार	51
आज आधी रात !	53
मेरे प्राणों की व्याकुलता	55
मैंने कितनी नादान की	56
कवि, अभी अधूरा ही संयम !	57
धधक रही मरघट की ज्वाला	59

62 क्या भूल सकूँगा जीवन-भर ?
63 विद्यार्थी-काल समाप्त हुआ
64 छोड़ता हूँ आज उपवन
65 क्या आज जा रहे हो सचमुच ?
66 क्यों दूँ किस्मत को भला दोष ?
67 मेरी परीक्षा हो रही
68 मेरा पथ मत रोको रानी !
70 कर सकूँगा अगम सागर पार
72 मै क्यों रुकूँ, मैं क्यो रुकूँ ?
73 आज कवि कैसी निराशा ?
74 आज कवि पी लो हलाहल
76 चारों ओर जल रही ज्वाला
77 फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन
79 चाहे मुझको मत अपनाओ ?
81 मैं गान करूँ भी तो किसका ?
83 मैंने कब बाजी हारी है
84 मेरे स्वर मे जीवन भर दो
87 हाय नही यह देखा जाता !
91 विद्रोह करो, विद्रोह करो
92 तब समझूँगा आया वसन्त
93 मजदूर-किसानों बढ़े चलो
94 सुन रहे हो क्रांति की आवाज ?
95 यह किसका कंकाल पड़ा है
97 जेल में आती तुम्हारी याद
98 मैं सब कुछ कहने का आदी
99 अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ अपने जीवन-गान

यह मेरे जीवन के गाने

इनमें मेरा अन्तर अंकित
इनमें मेरा सुख दुख विम्वित
यह मेरे जीवन के संबल, यह मेरे पथ के पहचाने
यह मेरे जीवन के गाने

इनमें मेरे उच्छ्वास भरे
इनमें मेरे विश्वास भरे
यह मेरी भूलों के साथी, यह मेरे मन के मस्ताने
यह मेरे जीवन के गाने

इनमें मैं जग का भ्रम भूला
इनमें मैं पथ का श्रम भूला
यह मेरी सूनी घड़ियों में आ पहुँचे जाने अनजाने
यह मेरे जीवन के गाने

इनमें जीवन का वन्दन भी
इनमें जीवन का क्रन्दन भी
जग को सुख-स्वर्ग बनाने में यह भी मुझ से ही दीवाने
यह मेरे जीवन के गाने

इनमें जीवन की हूक भरी
इनमें कोयल की कूक भरी
मधुमय वसन्त आवाहन में यह भी बौरों से बौराने
यह मेरे जीवन के गाने

इनमें यौवन की हाला भी
इनमें जीवन की ज्वाला भी
इनमें लय होने को उत्सुक मेरे प्राणों के परवाने
यह मेरे जीवन के गाने

मैं पथ पर चलता जाता हूँ

(1)

हाय, यहाँ मानव मानव में
समता का व्यवहार नहीं है
हाहाकारों की दुनिया है
स्वप्नों का संसार नहीं है
इसीलिए अपने स्वप्नों को मुट्ठी में मलता चलता हूँ
मैं पथ पर चलता जाता हूँ

(2)

अटल हिमालय-सा मैं मानव
जब लगता हूँ आहें भरने
मेरे रोम रोम से प्रतिपल
फूट फूट पड़ते हैं झरने
शीश न झुकने पाया, यद्यपि तिल तिल मैं गलता जाता हूँ
मैं पथ पर चलता जाता हूँ

(3)

भस्मात कर दूँगा क्षण में
ऊँच नीच के सब आडम्बर
काँप उठेगी निर्बल जगती
सिहर उठेगा सूना अम्बर
पाद प्रहारों से मैं पथ के कुश-कण्टक दलता जाता हूँ
मैं पथ पर चलता जाता हूँ

(4)

मेरे साथ प्रलय चलती है
मैं हूँ लपटों का अधिकारी
उर में ज्वालामुखी छिपाए
उगल रहा हूँ मैं चिनगारी
धूम्रकेतु-सा अपनी ज्वाला में ही मैं जलता जाता हूँ
मैं पथ पर चलता जाता हूँ

आया है नूतन वर्ष सखे

(1)

कितनी अतीत की संस्मृतियाँ
कितनी भावी अभिलाषाएँ
आया है लेकर वर्ष नया
कितनी नव-जीवन आशाएँ
नवयुग के नव सन्देशों का
स्वागत है आज सहर्ष सखे
आया है नूतन वर्ष सखे

(2)

नयनों में नव-उत्साह लिये
नंङ्गों भिखमंङ्गों की टोली
शोषक जग के प्रति बोल रही
कुछ कुछ परिवर्तित-सी बोली
मानव जीवन ही परिवर्तन
परिवर्तन ही उत्कर्ष सखे
आया है नूतन वर्ष सखे

(3)

इस नए वर्ष के साथ साथ
कुछ कुछ अशांत क्रंदन ध्वनि-सी
रह रह कानों में गूंज रही
हाहाकारों की प्रतिध्वनि-सी
ऐसा लगता होना है कुछ
जीवन में नव संघर्ष सखे
आया है नूतन वर्ष सखे

कैसा मधुर सुप्रभात था

(1)

प्राची क्षितिज के द्वार पर
जब चार आँखें हो गईं
देखा सितारेदार साड़ी
झिलमिलाती थी नई
जिससे झलक उठता उषा का राग-रंजित गात था
कैसा मधुर सुप्रभात था

(2)

अति स्पष्ट पड़ती थी सुनाई
निर्झरों की ध्वनि विकल
थी मल रही पलकें उषा
मुख धो रहे थे सुमन-दल
तृण, तरु, कुसुम, कलि, पल्लवों का गात सद्य स्नात था
कैसा मधुर सुप्रभात था

(3)

लख कर गुलाबी गाल
उषा के उठी जब हूक-सी
जब पास की अमराइयों से
एक कोयल कूक दी
सच जग पड़ा मेरे हृदय में काव्यस्वर अवदात था
कैसा मधुर सुप्रभात था

(4)

थे भनन भनन करते भ्रमर
सौरभ समेटे पाँख में
उस ओर बच्चे रो पड़े
कीचड़ लगाए आँख में

मुँह खोल कुछ झेंपा हुआ-सा हँस रहा जलजात था
कैसा मधुर सुप्रभात था

(5)

लहँगा समेटे गाँठ तक
पहने गिलट के गुड़हरे
खुरपी लिये, खँचिया लिये
अनुराग अंचल में भरे
छू कर कृषक-सुकुमारियों को विधुर विस्मित वात था
कैसा मधुर सुप्रभात था

(6)

आकाश में था गूँजता
नव-तरुणियों का मधुर स्वर
थीं ताल-सी देती हुईं
दो चक्कियाँ घुरु, घुरुर, घुर
जिसके समक्ष मृदङ्ग का भी ताल-स्वर सब मात था
कैसा मधुर सुप्रभात था

(7)

मिर्चा, पनेथी और डेली
ले नमक की साथ में
हल एक कन्धे पर धरे
हँसियाँ लिये निज हाथ में
किस ओर जाएगा पथिक यह तो अभी अज्ञात था
कैसा मधुर सुप्रभात था

(8)

बासी लिये रोटी बड़ा भाई
वहीं जब था खड़ा
छोटा उठा मुँह टोकरी से
दूध कह कर रो पड़ा
मैं काँप उठा था और टपका एक पीला पात था
कैसा मधुर सुप्रभात था

दो बातें करना पाप हुआ

(1)

वह भी क्या जीवन, जिसमें
जी बहलाने तक को प्यार न हो
वह भी क्या मानव, जिसको कुछ
कहने तक का अधिकार न हो
सचमुच सुन्दरि ! मुझको तो मेरा
ही यौवन अभिशाप हुआ
दो बातें करना पाप हुआ

(2)

तुम में निज को लय कर देता
सच, इसका मुझको सुख न हुआ
जी भरकर कुछ कह भी न सका
इसका भी मुझको दुख न हुआ
पहचान न तुम मुझको पाईं
केवल इतना सन्ताप हुआ
दो बातें करना पाप हुआ

(3)

जब मेरे इस पागलपन को
कुछ स्थान नहीं तुम दे पाईं
जब मेरे स्वर की प्रतिध्वनियाँ
मुझ से ही आकर टकराईं
तब से मैं सोचा करता हूँ
क्या मेरा व्यर्थ प्रलाप हुआ
दो बातें करना पाप हुआ

दुख से ही मुझको प्यार मिला

(1)

अपने जीवन-पथ पर तिल तिल
स्मृतियों की ज्वाला में जल जल

पीड़ा की गोदी में पल पल
मुझको यौवन अभिसार मिला
दुख से ही मुझको प्यार मिला

(2)

जब थोड़ा सुख मिल जाता है
फिर दुख को मन ललचाता है

मन जान नहीं यह पाता है
क्यों दुख में सुख का सार मिला
दुख से ही मुझको प्यार मिला

(3)

काँटों से छिदवा कर काया
मैं आज सुमन-धन कहलाया

सच पूछो तो शूलों से ही
मुझको सौरभ शृंगार मिला
दुख से ही मुझको प्यार मिला

क्या प्यार इसे ही मैं समझूँ...

(1)

तुमको आँखों के आगे पा
जब मैं हो उठता हूँ चंचल
जब बैठ सँजोने लगता हूँ
अपनी मधुस्मृतियों के कुछ पल

झीने अंचल की ओट किए

तुम रह रह मुसका देती हो
क्या प्यार इसे ही मैं समझूँ

(2)

निज टूटा फूटा पात्र लिये
जब मैं आगे बढ़कर आता
कंपित कर, कंपित वाणी से
जब कह उठता दे दे दाता
तब एक भिखारी समझ मुझे

तुम पीठ फेर चल देती हो
क्या प्यार इसे ही मैं समझूँ

(3)

समाङ्गण में जाने को मैं
रहता ही हूँ सन्नद्ध सदा
सुन सैनिक आवाहन भेरी
जब आकर कहता प्राण विदा!

नीरव-नयनों में करुणा भर

दो जलकण बरसा देती हो
क्या प्यार इसे ही मैं समझूँ

क्या आज मैं असफल हुआ

(1)

थी राह बीहड़ गिर पड़ा
पर झाड़ कर फिर हूँ खड़ा

मेरा पतन ही आज उन्नति
का सबल संबल हुआ
क्या आज मैं असफल हुआ

(2)

अवरुद्ध हो निर्झर प्रखर
है फोड़ता पाषाण उर

मेरे हृदय के स्रोत का भी
वेग आज प्रबल हुआ।
क्या आज मैं असफल हुआ

(3)

हूँ भाग्य कब कोसता
मैं तो यही हूँ सोचता

कठिनाइयों में पड़ कहीं
दिल तो नहीं दुर्बल हुआ
क्या आज मैं असफल हुआ

वरदान माँगूंगा नहीं

(1)

यह हार एक विराम है
जीवन महा संग्राम है
तिल तिल मिटूंगा पर दया की भीख मैं लूंगा नहीं
वरदान माँगूंगा नहीं

(2)

स्मृति सुखद प्रहरों के लिए
अपने खण्डहरों के लिए
यह जान लो मैं विश्व की सम्पत्ति चाहूंगा नहीं
वरदान माँगूंगा नहीं

(3)

क्या हार में क्या जीत में
किंचित नही भयभीत मैं
संघर्ष पथ पर जो मिले यह भी सही वह भी सही
वरदान माँगूंगा नहीं

(4)

लघुता न अब मेरी छुओ
तुम हो महान बने रहो
अपने हृदय की वेदना मैं व्यर्थ त्यागूंगा नहीं
वरदान माँगूंगा नहीं

(5)

चाहे हृदय को ताप दो
चाहे मुझे अभिशाप दो
कुछ भी करो कर्तव्य-पथ से किन्तु भागूंगा नहीं
वरदान माँगूंगा नहीं

मैं तो निराश न हो सका

(1)

मैं एक नौसिखिया निरा
गिर गिर उठ उठ उठ गिरा

वन वन मिटा, मिट मिट वना
पर निज विकास न खो सका
मैं तो निराश न हो सका

(2)

तन मन शिथिल था चूर्ण था
पथ अन्धकार - प्रपूर्ण था

जलते हुए जी की जलन का
पर प्रकाश न खो सका
मैं तो निराश न हो सका

(3)

चिर - वेदना अभिभूत मैं
नव-क्रान्ति का नवदूत मैं

होगा वदलना जीर्ण जग
यह एक आस न खो सका
मैं तो तिराश न हो सका

मुझको यह पाठ नहीं भाते

(1)

यह मन की बातें गढ़ गढ़ कर
मैं क्या पाऊँगा पढ पढ़ कर

मुझको दो ऐसे गान सिखा
मैं मिट जाऊँ गाते गाते
मुझको यह पाठ नहीं भाते

(2)

अपने अमूल्य क्षण खोना है
इन बातों से क्या होना है

जिनसे क्षण भर भी जीवन का
हम भार न हल्का कर पाते
मुझको यह पाठ नहीं भाते

(3)

क्या शिक्षा का उपयोग यहाँ
है हाय हाय का शोर जहाँ

मेरी आँखों के आगे तो
जगती के सुख दुख मँडराते
मुझको यह पाठ नहीं भाते

कब भूल मैं करता रहा

(1)

खो प्यार, पाया जो नहीं
पी कर पचाया जो नहीं
उर में समाया जो नहीं

वह ही हृदय का स्रोत
आँखों से सदा झरता रहा
कब भूल मैं करता रहा

(2)

अपने प्रणय की कामना
अपने हृदय की भावना
आपत्तियों का सामना

सुख दुःख अपनी ज़िन्दगी
के गीत में भरता रहा
कब भूल मैं करता रहा

(3)

चाहे न मन का मोल हो
चाहे न दुख की तोल हो
दुनिया भले ही गोल हो

विश्वास है, मैं पैर आगे
ही सदा धरता रहा
कब भूल मैं करता रहा

कब कौन अपनी कह सका

(1)

समझे पराए प्यार को
अवकाश कब संसार को
कब आंसुओं की धार में
कोई किसी की वह सका
कब कौन अपनी कह सका

(2)

वह कौन दुखिया आज है
पीड़ित समस्त समाज है
सौ में अगर दस हँस लिए
क्या विश्व हँसमुख रह सका
कब कौन अपनी कह सका

(3)

इस कुटिल काल प्रहार को
रूखे जगत व्यवहार को
फिर कब सहूँगा आज मानव
बन नहीं यदि सह सका
कब कौन अपनी कह सका

(4)

क्या अर्थ इस अनुराग का
मेरे हृदय की आग का
जिसके प्रबल विस्फोट से
जर्जर समाज न ढह सका
कब कौन अपनी कह सका

यह गति न मेरी बन्द हो

(1)

गिरि गहन दुर्गम घाटियों के
घात सब सहता रहूँ
उत्थान और पतन सभी में
एकरस बहता रहूँ

टकरांय हिमगिरि सामने
फिर भी न यह मतिमन्द हो
यह गति न मेरी बन्द हो

(2)

यह गीत का वरदान भी
जलते उरों के ही लिए
सौरभ-सुगन्ध मिली सुमन को
दूसरों के ही लिए

संसार मधुसंचय करे
मेरा हृदय मकरन्द हो
यह गति न मेरी बन्द हो

(3)

जो तृप्त अमृत से न हो
ऐसी प्रबलतम प्यास हो

जिसके लिए मैं मिट रहा
मेरा उसे विश्वास हो

अपना न जब कोई रहे
केवल सहारा छन्द हो
यह गति न मेरी बन्द हो

(4)

असहाय निर्बल को कभी
यह विश्व ही सुख-स्वर्ग हो
मानव, तुम्हारे ही लिए
जीवन सदा उत्सर्ग हो

मेरे लिए तो बस यही
सत - चित्त - ब्रह्मानन्द हो
यह गति न मेरी बन्द हो

(5)

अन्यायियों के दुर्ग गढ़
ढह जाँय, मिट्टी में सनें
विश्वास का सम्बल पकड़
मानव कभी मानव बनें

नवक्रांति के पथ पर सदा
मेरी प्रगति स्वच्छन्द हो
यह गति न मेरी बन्द हो

यह तो विप्लव की वेला है

देखो कब से वृद्ध हिमालय
सर पर खड़ा पुकार रहा है
और उधर दुश्मन भी तनकर
बार बार ललकार रहा है
आज न आगे बढ़ना करना अपनी माँ की अवहेला है
--यह तो विप्लव की वेला है

आज संदेशा स्वतंत्रता का
पहुँच गया सब के घर घर है
किसमें कितना दम खम देखें
आज परीक्षा का अवसर है
माँ का पूत वही जो अपने प्राणों से हँस हँस खेला है
यह तो विप्लव की वेला है

अकर्मण्य भुजदण्ड हमारे
क्या ढीले ही पड़े रहेंगे
और विवशता पर अपनी
हम मुँह बाए ही खड़े रहेंगे
सदियों से दासत्व और अपमान सदा हमने झेला है
यह तो विप्लव की वेला है

आओ, उठो, चलो, जल्दी
समराङ्गण में कुहराम मचाने
पीकर जिसका दूध खड़े हैं
उस माता की लाज बचाने
वह देखो लग रहा समर में आज शहीदों का मेला है
यह तो विप्लव की वेला है

लो आज बज उठी रणभेरी !

(1)

माँ कब से खड़ी पुकार रही
पुत्रो ! निज कर में शस्त्र गहो
सेनापति की आवाज़ हुई
तय्यार रहो, तय्यार रहो

आओ तुम भी दो आज विदा

अब क्या अड़चन, अब क्या देरी
लो आज बज उठी रणभेरी !

(2)

पैंतीस कोटि लड़के बच्चे
जिसके बल पर ललकार रहे
वह पराधीन बन निज गृह में
परदेशी की दुत्कार सहे

कह दो अब हमको सह्य नहीं

मेरी माँ कहलाए चेरी
लो आज बज उठी रणभेरी !

(3)

जो दूध दूध कह तड़प गए
दाने दाने को तरस तरे

लाठियाँ गोलियाँ जो खाईं
वे घाव अभी तक बने रहे

उन सबका बदला लेने को
अब बाहें फड़क रहीं मेरी
लो आज बज उठी रणभेरी !

(4)

अब बढ़े चलो, अब बढ़े चलो
निर्भय हो जय के गान करो
सदियों में अवसर आया है
बलिदानी, अब बलिदान करो

फिर माँ का दूध उमड़ आया
बहनें देतीं मङ्गल फेरी
लो आज बज उठी रणभेरी

(5)

जलने दो जौहर की ज्वाला
अब पहनो केसरिया बाना
आपस का कलह डाह छोड़ो
तुम को शहीद बनने जाना

जो बिना विजय वापस आए
माँ ! आज शपथ उसको तेरी
लो आज बज उठी रणभेरी !

मानव बनो, मानव ज़रा

(1)

है भूल करना प्यार भी
है भूल यह मनुहार भी
पर भूल है सबसे बड़ी
करना किसी का आसरा
मानव बनो, मानव ज़रा

(2)

अब अश्रु दिखलाओ नहीं
अब हाथ फैलाओ नहीं
हुङ्कार कर दो एक जिससे
थरथरा जाए धरा
मानव बनो, मानव ज़रा

(3)

उफ़ हाय कर देना कहीं
शोभा तुम्हें देता नहीं
इन आँसुओं से सींच कर दो
विश्व का कण कण हरा
मानव बनो, मानव ज़रा

(4)

अब हाथ मन अपने मलो
जलना अगर ऐसे जलो
अपने हृदय की भस्म से
कर दो धरा को उर्वरा
मानव बनो, मानव ज़रा

पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(1)

जीवन के कुसुमित उपवन में
गुंजित मधुमय कण-कण होगा
शैशव के कुछ सपने होंगे
मदमाता-सा यौवन होगा
यौवन की उच्छृंखलता में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(2)

पथ में काँटे तो होंगे हीं
दूर्वादल, सरिता, सर होंगे
सुन्दर गिरि, वन, वापी होंगी
सुन्दर सुन्दर निर्भर होंगे
सुन्दरता की मृगतृष्णा में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(3)

मधुवेला की मादकता से
कितने ही मन उन्मन होंगे
पलकों के अञ्चल में लिपटे
अलसाए से लोचन होंगे
नयनों की सुघड़ सरलता में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(4)

साक़ीबाला के अधरों में
कितने ही मधुर अधर होंगे
प्रत्येक हृदय के कम्पन पर
रुनझुन रुनझुन नूपुर होंगे
पग पायल की झनकारों में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(5)

यौवन के अल्हड़ वेगों में
बनता मिटता छिन छिन होगा
माधुर्य्य सरसता देख देख
भूखा प्यासा तन मन होगा
क्षण भर की क्षुधा पिपासा में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(6)

जब विरही के आँगन में घिर
सावन घन कड़क रहे होंगे
जब मिलन-प्रतीक्षा में, बैठे होंगे
दृढ़ युगभुज फड़क रहे होंगे
तब प्रथम-मिलन उत्कण्ठा में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(7)

जब मृदुल हथेली गुम्फन कर
भुज वल्लरियाँ बन जाएँगी
जब नव-कलिका सी
अधर पंखुरियाँ भी संपुट कर जाएँगी
तब मधु की मदिर सरसता में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(8)

जब कठिन कर्म पगडण्डी पर
राही का मन उन्मुख होगा
जब सब सपने मिट जाएँगे
कत्तव्य मार्ग सन्मुख होगा
तब अपनी प्रथम विफलता में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(9)

अपने भी विमुख पराए बन
आँखों के सन्मुख आएँगे
पग पग पर घोर निराशा के
काले बादल छा आएँगे
तब अपने एकाकी-पन में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(10)

जब चिर-सञ्चित आकांक्षाएँ
पलभर में ही ढह जायेंगी
जब कहने सुनने को केवल
स्मृतियाँ बाकी रह जायेंगी
विचलित हो उन आघातों में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(11)

हाहाकारों से आवेष्टित
तेरा मेरा जीवन होगा
होंगे विलीन ये मादक स्वर
मानवता का क्रंदन होगा
विस्मित हो उन चीत्कारों से
पथ भूल न जाना पथिक कहीं !

(12)

रणभेरी सुन कह 'विदा, विदा'!
जब सैनिक पुलक रहे होंगे
हाथों में कुंकुम थाल लिये
कुछ जलकण ढुलक रहे होंगे
कर्तव्य प्रणय की उलझन में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं!

(13)

वेदी पर बैठा महाकाल
जब नर बलि चढ़ा रहा होगा
बलिदानी अपने ही कर से
निज मस्तक बढा रहा होगा
तब उस बलिदान प्रतिष्ठा में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं!

(14)

कुछ मस्तक कम पड़ते होंगे
जब महाकाल की माला में
माँ माँग रही होगी आहुति
जब स्वतन्त्रता की ज्वाला में
पल भर भी पड़ असमंजस में
पथ भूल न जाना पथिक कहीं!

मैं हूँ गुलाब का फूल सखे

(1)

मेरी ही पँखुड़ियों को छू
ऊषा का यौवन जागा है
मुझ में सुरूप भी, सौरभ भी
सोने में भरा सुहागा है

सब मुझे एक स्वर से कहते
मैं सुन्दरता का मूल सखे
मैं हूँ गुलाब का फूल सखे

(2)

बचपन से ही मलयानिल ने
मुझको काँटों में दुलराया
काँटों की गोदी में ही पल
मैं न मादक यौवन पाया

पर बेध नहीं पाते मुझको
मेरी डाली के शूल सखे
मैं हूँ गुलाब का फूल सखे

(3)

मेरी ही आभा से रंजित
नयनों की नीलम सी प्याली

एड़ी का बना महावर मैं
मैं सुघड़ कपोलों की लाली

मैं गागर में सागर हूँ या
मैं हूँ विधवा की भूल सखे
मैं हूँ गुलाब का फूल सखे

(4)

मैं देता सौरभदान, समझता
नहीं उसे यौवन खोना
मानव ! तुम अपने दुखड़ों का
नाहक रोते रहते रोना

देखो मैं मुसकाता रहता
यद्यपि क़िस्मत में धूल सखे
मैं हूँ गुलाब का फूल सखे

(5)

जीवन का अर्थ यही समझा
हँस हँस कर अर्पित प्राण करें
आओ चर अचर सभी मिलकर
नव-सुषमा का निर्माण करें

फिर तो हम तुम दोनों को ही
हो जाना है निर्मूल सखे
मैं हूँ गुलाब का फूल सखे

फूल का हार

(1)

आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

रूप देकर कल्पनाओं को किसी ने था सजाया
हाय कितनी साध से मुझको लताद्रुम में लगाया
और कह डाला कि मैं संसार का सुखसार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

(2)

याद है अब तक मुझे अपनी बिछुड़ने की कहानी
चुन लिया था डाल से, थी हो गई डाली बिरानी
जो कभी पूरी न होगी वह विफल मनुहार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

(3)

था उठा इठला अकिंचन जब ज्वलित कर स्नेह बाती
था भरा सौरभ इसी अपराध में दी छेद छाती
दूसरों के हित, हृदय में मैं पिरोए तार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

(4)

और कुम्हलाने लगा आज कुछ-कुछ गात साथी
रूप के बाजार में होगी न मेरी बात साथी
मैं उपेक्षित सा किसी भूले हुए का प्यार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

(5)

अंत क्या होगा न जाना, है न इतना होश मुझको
सबसमझता विश्व की गति, पर यही संतोष मुझको
हूँ चुका बहला व्यथित जग का हृदय दिन चार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

(6)

इस कठिन कर्त्तव्य पथ पर है शिकायत का न अवसर
वेदना से व्यथित होकर, मत करो द्रुम आज मरमर
पूछना क्या, मैं व्यथा की ही कथा साकार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

(7)

कंटकों की गोद में पल कर हुआ इतना बड़ा मैं
शीश पर नभ के तरलकण ही लिए अब तक खड़ा मैं
बहन कलिका कह रही थी मैं बड़ा सुकुमार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

(8)

बिंध गया मेरा हृदय इससे नहीं किंचित दुखी मैं
चाहता था और कुछ दिन विश्व को करता सुखी मैं
चार दिन की जिंदगी थी क्या करूँ लाचार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

(9)

हो चुका जब मैं समर्पित अश्रुवारि-विमोचना क्या
इस सतत क्रियमाण जग में मिट रहा यह सोचना क्या
है बहुत इतना, किसी के प्रेम का उपहार हूँ
आज तो मैं भी हृदय का हार हूँ

आज आधी रात

(1)

मैं विगत इतिहास के
पन्ने उलट कर सो चुका था
भूल जाने के लिए ही
मैं जिसे पा खो चुका था

आज सपने में गया कह कौन बीती बात
आज आधी रात

(2)

आह थी कैसी विवशता
छू न पाया उँगलियों को
था न जाने कौन करता
स्पर्श मेरी पुतलियों को

जग पड़ा मैं, जगी मेरी उनींदी रात
आज आधी रात

(3)

सोचता हूँ क्या युझा
पाते न अपनी प्यास प्राणी
वहुत रोका पर निकल ही
तो पड़ी निश्वास मानी

लाल आँखें देखती थी लाल लाल प्रभात
आज आधी रात

(4)

रिक्त कर दो कोष मुझको
अब न दो वरदान दानी
चाहता हूँ मधुर स्मृतियों
का बहा दूँ आज पानी
सूख जाएँ आज नयनों के निरीह प्रपात
आज आधी रात

(5)

हाय सामाजिक विषमता
ही बनी है आज बाधक
हन्त क्या मिल भी न पाते
विश्व में दो प्रीति-साधक
और फिर मचता हृदय में क्यों विकट उत्पात
आज आधी रात

(6)

ठहर जाओ ध्वंस कर लूँ
मैं विषम संसार पहले
और मानव-मात्र को
उपलब्ध कर दूँ प्यार पहले
कर्म पथ पर तुम न डालो अब अधिक व्याघात
आज आधी रात

(7)

क्रांति की आवाज सुनकर
अब न मेरे प्राण चौंको
फिर नये सिर से बसाने
दो जगत मत आज रोको
प्रतिक्रिया है यह उसी की जो सहे आघात
आज आधी रात

मेरे प्राणों की व्याकुलता

(1)

कैसे अपनी बात बताऊँ
कैसे दुनिया को समझाऊँ
समझ नहीं जब मैं पाता हूँ अपने अन्तर की आकुलता
मेरे प्राणों की आकुलता

(2)

सुख से भी सन्तोष न होता
मद से भी मदहोश न होता
कहीं प्रबल है मुझ से साथी, मेरे जीवन की चञ्चलता
मेरे प्राणों की व्याकुलता

(3)

यदि सम्भव अभिसार नहीं था
मदिरा पर अधिकार नहीं था
चखा दिया था क्यों अधरों को जिससे हृदय आज तक जलता
मेरे प्राणों की व्याकुलता

(4)

चाहे पुनः न मिलने पाएँ
एक बार तो जी भर जाएँ
पर यह भी दुर्लभ है जग में यही मुझे रह रह कर खलता
मेरे प्राणों की व्याकुलता

(5)

यहाँ मानसिक भूख जगी है
वहाँ पेट में आग लगी है
जग का यह वैषम्य देखकर, मेरा सारा खून उबलता
मेरे प्राणों की व्याकुलता

मैंने कितनी नादानी की

(1)

सब काम अधूरा ही छोड़ा
मृग तृष्णा के पीछे दौड़ा
मैंने अपने ही जीवन से पग पर बेईमानी की
मैंने कितनी नादानी की

(2)

मत समझो व्यर्थ झगड़ता हूँ
अपनी किस्मत से लड़ता हूँ
जो चाहे वह कह सकते हैं मेरी काया अभिमानी थी
मैंने कितनी नादानी की

(3)

लग रहे निराशा के झोंके
पर मैं न रुका उनके रोके
साथी दुर्दिन में ही मैंने अपनी दुनिया पहचानी थी
मैंने कितनी नादानी की

(4)

दुर्बलता ही लाचारी है
असफलता कितनी प्यारी है
उनके ही बल पर तो मने अपनी अपूर्णता जानी थी
मैंने कितनी नादानी की

(5)

पथ पर बिखेर दूंगा जीवन
आँसू से सींचूंगा कण कण
उर्वर जगती तब समझेगी मेरी आहें वरदानी थीं
मैंने कितनो नादानी की

कवि, अभी अधूरा ही संयम !

(1)

क्या पाया मार निबल पक्षी
लड़ उससे जो हो समकक्षी

निर्बल पर ज़ोर दिखाने में आई न तुझे कुछ लाज-शरम
कवि, अभी अधूरा ही संयम !

(2)

सच कह किस मद में फूल गया
पक्षी का कलरव भूल गया

वन प्रकृति पुजारी दुनिया में तू निगल गया उनको निर्मम
कवि, अभी अधूरा ही संयम !

(3)

नीड़ों का प्यारा छीन लिया,
बच्चों का चारा छीन लिया

वे चोंच खोल बैठे होंगे बन अथक प्रतीक्षा के विभ्रम
कवि, अभी अधूरा ही संयम !

(4)

कल्पना लोक में उड़ता है
बातें भी ऊँची करता है

नाहक मत धोखा दे जग को अन्तर में लेकर स्वार्थ विषम
कवि, अभी अधूरा ही संयम !

(5)

वह भेष छिपाए दानव का
क्या भला करेगा मानव का

जब क्षणिक क्षुधा के वश में हो कर गया अनेकों जीव हजम
कवि, अभी अधूरा ही संयम !

(6)

तुझको तो प्यार दिखाना था
उन पंखों को सहलाना था

इन भूले-भटके जीवों को बतला देनी थी राह सुगम
कवि, अभी अधूरा ही संयम !

(7)

वे मुँह तक खोल नहीं सकते
निर्बल हैं बोल नहीं सकते

तू गला घोंटता था उनका वे तड़प रहे थे चुप गुम सुम
कवि, अभी अधूरा ही संयम !

(8)

कर्त्तव्य समझना बड़ा कठिन
दुख-दर्द समझना बड़ा कठिन

क्या जानें इस थोड़े सुख में है कितनी तड़पन कितना ग़म
कवि, अभी अधूरा ही संयम

धधक रही मरघट की ज्वाला

(1)

एक एक चिनगारी में ही
कितने काल अशेष भरे हैं
कितनों के अरमान अधूरे
यहाँ राख का वेष धरे हैं

नित प्रति नई नई आहुतियाँ
धधक रही मरघट की ज्वाला

(2)

फूंक चुके कितने अपने ही
हाथों से जीवन-सुख अपना
बहा चुकी हैं दुखिया आँखें
कितनी गंगा कितनी यमुना

पर न बुझी है, बुझ न सकेगी
धधक रही मरघट की ज्वाला

(3)

स्नेही उर के स्नेहपात्र कितने ही
इन लपटों में सोए
कर मल मल रह गए देखते
विवश विसुध से खोए खोए

करती-सी उपहास जगत का
धधक रही मरघट की ज्वाला

(4)

राम, कृष्ण, गौतम कोई भी
इन लपटों से बचे नहीं हैं
अजी हमारे जन्म-मरण के खेल
इन्हें कुछ नए नहीं हैं

भूख प्रबल है वैश्वानर की
धधक रही मरघट की ज्वाला

(5)

बाँस हाथ में लिए कोंचता
कौन खोपड़ी वह मानव की
क्या मसान का देव यही है
भीषण आकृति-सी दानव की

क्या उसने यह कभी न सोचा
धधक रही मरघट की ज्वाला

(6)

क्या जीवन ? जिसने आँसू ही
देखे हैं, मुसकान न देखी
चिर-विछोह का साक्षी है जो
मधुर-मिलन की आन न देखी

उसके भीतर बाहर दोनों
धधक रही मरघट की ज्वाला

(7)

सृष्टि बहा देती यदि शंभु-
जटाओं का मिलता न सहारा
सुर, नर, जिसे देख सिहरे थे
यही वही गंगा की धारा

किंतु वक्ष पर आज उसी के
धधक रही मरघट की ज्वाला

(8)

ज्वालामुखी पड़ गए ठंडे
वड़वानल सूखे सागर में
शंकर के तीसरे नेत्र की
ज्वाला शांत हुई क्षण भर में
सृष्टि प्रलय पर्यन्त एक सम
धधक रही मरघट की ज्वाला

(9)

हुआ-हुआ करते शृंगाल मिल
हाय-हाय मानव करते हैं
हू-हू करती मुआ, चिता के
सूखे काठ चीख भरते हैं
कर्ण-बधिर-सी अपनी धुन में
धधक रही मरघट की ज्वाला

(10)

मेरी नौका चली जा रही
शुभ्र ज्योत्स्ना छिटक रही है
शान्त स्निग्ध है पवन
लहर भी छप छप करती छहर रही है
देख रहा हूँ किन्तु सामने
धधक रही मरघट की ज्वाला

क्या भूल सकूँगा जीवन भर ?

(1)

मेरी दुर्दिन लाचारी में
मेरी बेवस बीमारी में
तुमने जो अपने आँचल से था मेरा मस्तक सहलाया
क्या भूल सकूँगा जीवन भर ?

(2)

इन नयनों की फुलझड़ियों में
मेरी सूनी-सी घड़ियों से
कुछ प्यारी-प्यारी बातें कह था तुमने जो उर बहलाया
क्या भूल सकूँगा जीवन भर ?

(3)

अब कसक रहे हैं वे छिन-छिन
प्रिय उस दिन जब चलने के दिन
चल विकल मीन-सी आँखों से था मौन संदेशा कहलाया
क्या भूल सकूँगा जीवन भर ?

विद्यार्थी-काल समाप्त हुआ !

(1)

जिसको मैं समझे था अपना
है टूट रहा वह भी सपना
अब तो इन आँखों के आगे
कुछ कुछ अँधियारा व्याप्त हुआ
विद्यार्थी-काल समाप्त हुआ

(2)

अब कौन कहेगा विद्यार्थी
सब छूट रहे संगी साथी
कुछ खोया खोया लगता है
मैं क्या जानूं क्या प्राप्त हुआ
विद्यार्थी-काल समाप्त हुआ

(3)

रक्षित स्मृति के आवरणों में
मैं लोट लोट गुरु-चरणों में
जो प्यार दुलार समेट सका
—वह ही मुझको पर्याप्त हुआ
विद्यार्थी-काल समाप्त हुआ

छोड़ता हूँ आज उपवन

(1)

सींच सौरभमय किया उर
कर सका सेवा न जी भर
तोड़ कर कोई चला ले
सूजियों से वेध मृदु तन
छोड़ता हूँ आज उपवन

(2)

छूटती है आज डाली
दो यही वरदान माली
पूर्ण सौरभमय सकूँ कर
विश्व का प्रत्येक कण-कण
छोड़ता हूँ आज उपवन

(3)

देख मुझको अनमना सा
धूल में लिपटा सना सा
हाय, कह देना यही था
एक दिन मेरा सुमन-धन
छोड़ता हूँ आज उपवन

क्या आज जा रहे हो सचमुच ?

(1)

कब मिले न इसका ध्यान रहा
जाओगे भी, यह ख़्याल न था
भावी वियोग आशंका से
मैं इसीलिए वेहाल न था
अब सूझ नहीं पड़ता कुछ भी, केवल बैठा यह सोच रहा
क्या आज जा रहे हो सचमुच ?

(2)

तुम मुझसे विदा माँगते थे
मैं धरती खड़ा कुरेद रहा
प्रिय, 'विदा' शब्द अब तक रह रह
मेरी छाती को छेद रहा
उत्तर में परवशता का स्वर, मेरी आँखों की राह बहा
क्या आज जा रहे हो सचमुच ?

(3)

मुझको न रहा अस्तित्व-भान
आँखों में धुँधली-सी छाई
मेरी चल-सजल पुतलियों पर
पड़ती थी प्रिय की परछाई
मेरी ही आँखों के सम्मुख, मेरे स्वप्नों का गेह ढहा
क्या आज जा रहे हो सचमुच ?

(4)

था रुँधा कण्ठ में गोला-सा
मैं लुटा हुआ-सा, भूला-सा
जाने क्यों दिल में रह रह कर
उठता था एक बगूला-सा
मैं मौन देखता खड़ा रहा, तुम चले गए, कह भी न सका
क्या आज जा रहे हो सचमुच ?

क्यों दूँ किस्मत को भला दोष ?

(1)

सुख से भी जाते प्राण ऊब
दुख से भी जाते प्राण ऊब
मुझको दोनों की अति असह्य, मुझको दोनों से असंतोष
क्यों दूँ किस्मत को भला दोष ?

(2)

अंबर पर चढ़ गिरते जल कण
कहते जीवन उत्थान पतन
फिर अपनी असफलताओं पर, मैं आज करूँ क्यों व्यर्थ रोष
क्यों दूँ किस्मत को भला दोष ?

(3)

प्रिय-मिलन बना देता उन्मन
जलते वियोग में ज्वालाकण
इस चक्कर में ही पड़ अब तक पाया सम्हाल अपने न होश
क्या दूँ किस्मत को भला दोष ?

(4)

चाहे न पूर्णता मैं पाऊँ
चलते ही चलते मिट जाऊँ
पत्थर पर दूँ पदचिह्न बना, मुझमें है इतना भरा जोश
क्यों दूँ किस्मत को भला दोष ?

मेरी परीक्षा हो रही

(1)
मनुहार देख नए नए
तुम रूठ नाहक ही गए
आभास पाया जब सदय तुम थे खड़े मुख मोड़कर
मेरी परीक्षा हो रही

(2)
अरमान मेरे एक तुम
अभिमान मेरे एक तुम
समझा तभी जब चल दिए थे नेह नाता तोड़ कर
मेरी परीक्षा हो रही

(3)
दुख दाह सब सहता रहा
यह मान कर चलता रहा
मेरे हृदय, जब हैं गए स्मृति-भार मुझ पर छोड़ कर
मेरी परीक्षा हो रही

(4)
पथ पर न गिर सकता कभी
पीछे न फिर सकता कभी
यह जान कर ही बढ़ रहा अपनी नियति से होड़ कर
मेरी परीक्षा हो रही

मेरा पथ मत रोको रानी !

(1)

है आज प्रलय का आवाहन
बज बज उठती है रणभेरी
तुम मुख मलीन कर बार-बार
अब व्यर्थ लगाओ मत देरी
दो विदा, न यों अकुलाओ प्रिय
भर भर कर आँखों में पानी
मेरा पथ मत रोको रानी !

(2)

देखो जीवन की ज्वाला में
मेरा जी रह रह कर जलता
तुम से क्या हाय छिपाऊँ मैं
अपने जीवन की दुर्बलता
क्या चाह रही हो बिखर पड़े
मुझ नौसिखिया की नादानी
मेरा पथ मत रोको रानी !

(3)

रण की विभीषिका देख देख
जब होगी मुझको बेहाली
तब याद रहेगी इस कर से
अंकित यह कुंकुम की लाली
उसके बल पर ही विजयी बन
मैं लौट सकूँगा कल्याणी
मेरा पथ मत रोको रानी !

(4)

या जब आहत समरस्थल में
होगी जीवन-आशा खोती
संतोष, गिनूंगा पड़ा पड़ा
चिर-विदा समय के ये मोती
तुम वीर-वधू थी इतना तो
कह लेगा यह मन अभिमानी
मेरा पथ मत रोको रानी !

(5)

तुम भी रणचंडी बन जाओ
मैं क्रांतिकुमारी का अनुचर
हो ध्वंस प्रलय का राग प्रबल
दो मन्त्र फूंक ऐसे सत्वर
इतिहासों के भी पन्नों में
हो जाय अमर यह कुरबानी
मेरा पथ मत रोको रानी !

कर सकूंगा अगम सागर पार

(1)

चवित भर आपत्तियों के
सिंघु से मैं उलझता हूँ
सत्य मानो मैं न तब तक
कुछ किसी को समझता हूँ
हाथ में जब तक तुम्हारे प्यार की पतवार
कर सकूंगा अगम सागर पार

(2)

है चुनौती आज बड़वानल
जले, तूफान आए,
देखते कौतुक रहो, आकाश
में दीपक जलाए
पूर्ण होगा आज लहरों में प्रणय अभिसार
कर सकूंगा अगम सागर पार

(3)

आज आलिंगन पराजित
काल से मैं कर रहा हूँ
अमर होगी युगयुगों तक
भावना वह भर रहा हूँ
मोल जीवन को लगा कर, कर रहा व्यापार
कर सकूंगा अगम सागर पार

(4)

सह चुके कितने प्रबल
तूफान मेरे जीर्ण बेड़े
कर रहे उपहास अपना ही
जलधि के ये थपेड़े
सह चुका इससे प्रबलतम निठुर नियति प्रहार
कर सकूँगा अगम सागर पार.

(5)

है यही यौवन, यही जीवन
रहे चिर-प्रलय नर्तन
आज कुछ-कुछ जान पाया हूँ
मधुर कितना विसर्जन
क्या समझ सकता इसे तट पर खड़ा संसार
कर सकूँगा अगम सागर पार

मैं क्यों रुकूं, मैं क्यों रुकूं

(1)

मैं इस प्रगति पथ पर खड़ा
तूफान में जब जा पड़ा
तब झाड़ियों की आड़ में मैं क्यों लुकूं, मैं क्यों लुकूं ?
मैं क्यों रुकूं, मैं क्यों रुकूं ?

(2)

मारुत कभी रुकता नहीं
मारुत कभी थकता नहीं
झंझा लिए उद्‌गार में, मैं क्यों थकूं, मैं क्यों थकूं ?
मैं क्यों रुकूं, मैं क्यों रुकूं ?

(3)

तिल तिल गला, पल पल बहा
पर एवरेस्ट तना रहा
मानव महान कहा कहो, मैं क्यों झुकूं, मैं क्यों झुकूं ?
मैं क्यों रुकूं, मैं क्यों रुकूं ?

आज कवि कैसी निराशा

(1)

आज मत खोजो अँधेरा
आज नवयुग का सबेरा
आज चिर-शोषित हृदय में भी जगी है एक आशा
आज कवि कैसी निराशा

(2)

आग कुछ ऐसी जगी है
प्राण की बाज़ी लगी है
चिर-पराजित की विजय का फिंक चुका है आज पाँसा
आज कवि कैसी निराशा

(3)

निर्बलों का नाद देखो
हिल उठे प्रासाद देखो
रूढ़िग्रस्त समाज जर्जर, चल रही है अंत श्वासा
आज कवि कैसी निराशा

(4)

अब सुलग घर घर उठेगा
आज क्या सागर बचेगा?
चिर-तृषित मानव हृदय की जग पड़ी है अब पिपासा
आज कवि कैसी निराशा

(5)

मत विहाग मुझे सुनाओ
आज भैरव राग गाओ
कह रहा हूँ कवि बदल दो आज निज नैराश्य भाषा
आज कवि कैसी निराशा

आज कवि पीलो हलाहल

(1)
देव असुरों में छिड़ा रण
हो रहा है सिंधु-मंथन
बाद में अमृत, निकल
पहले पड़ेगा गरल छल-छल
आज कवि पीलो हलाहल

(2)
विश्व का संकट बचाओ
विश्व को अमृत पिलाओ
भस्म कर देगी नहीं तो
आज भीषण ज्वाल जल-जल
आज कवि पीलो हलाहल

(3)
मुँह न तुम इससे हटाना
यह तुम्हें होगा पचाना
बैठ हिमगिरी पर करो
शीतल जगत को आज गल-गल
आज कवि पीलो हलाहल

(4)

देवता नतशिर रहेंगे
धन्य सब मानव कहेंगे

फूट मस्तक से पड़ेगा

जब तुम्हारे पूत जल कल
आज कवि पीलो हलाहल

(5)

भस्म तन में, वस्त्र पीला
रक्त आँखें, कंठ नीला

और भाल विशाल पर

चमके तुम्हारे चन्द्र चंचल
आज कवि पीलो हलाहल

(6)

यदि हलाहल पी सकोगे
नीलकंठ तुम्ही बनोगे

और मानव गा सकेगा

फिर तुम्हारे गीत पल-पल
आज कवि पीलो हलाहल

चारों ओर जल रही ज्वाला

(1)

आज रक्त घृत बन बलता है
हड्डी का ईंधन जलता है
कंकालों की आहुति पड़ती यह ऐसी भीषण विकराला
चारों ओर जल रही ज्वाला

(2)

देख देख सिर चकराता है
मानव को मानव खाता है
फिर भी आज लिये बैठे कुछ अपना अलग सुराही प्याला
चारों ओर जल रही ज्वाला

(3)

उफ़ यह कैसी विह्वलता है
रोते हाय नहीं बनता है
आह आह कर आज पड़ गया कितनों की जिह्वा में छाला
चारों ओर जल रही ज्वाला

(4)

अब तो रहा नहीं जाता है
अब तो सहा नहीं जाता है
क्यों न क्षार कर दें उसको जिसने जग क्षार-क्षार कर डाला
चारों ओर जल रही ज्वाला

(5)

आग धधकती ही जाती है
पर इस पर लज्जा आती है
कैसे बचा अभी तक जिसने इन मासूमों का घर घाला
चारों ओर जल रही ज्वाला

फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन

(1)

पलकों के पलने पर प्रेयसि
यदि क्षण भर तुम्हें झुला न सका
विश्रांत तुम्हारी गोदी में
अपना सुख-दुःख भुला न सका
क्यों तुममें इतना आकर्षण, क्यों कनक वलय की खनन खनन
फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन

(2)

आहों से शोले, नयनों से
निकली यदि चिनगारी न प्रखर
अधरों में भर असीम तृष्णा
यदि पी न सका अहरह सागर
लेकर इतनी वेदना व्यथा, किस योग मिला फिर यह यौवन
फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन

(3)

अपने क्रन्दन को निर्बल के
रोदन में अगर मिला न सका
हाहाकारी चीत्कारों से
प्रस्तर उर हाय हिला न सका
बन मन की मुखरित आकांक्षा, किस अर्थ मिला फिर चिर-क्रंदन
फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन

(4)

निश्वासों की तापों से यदि
शोषक हिमदुर्ग गला न सका

उर उच्छ्वासों की लपटों से
सोने के महल जला न सका

क्यों भाव प्रबल, क्यों स्वर लयमय, किस काम हमारा यह गायन
फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन

(5)

यदि निपट निरीहों का संबल
बनने की तुझमें शक्ति न थी
यदि मानव बन मानवता के
हित मिटने की अनुरक्ति न थी

क्यों आह कर उठा था उस दिन, क्यों बिखर पड़े थे कुछ जलकण
फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन

(6)

अग्नि - स्फुलिंग - मय वाणी से
पल पल पावक कण फूंक - फूंक
यदि कर न सका परवशता की
यह लौह शृंखला टूक - टूक

क्यों बलिदानी इतना आतुर, क्यों आज बेड़ियों की झनझन
फिर व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन

(7)

यदि अटल साधना के बल पर
कर पाया विष मधुपेय नहीं
यदि आत्म - विसर्जन कर तुममें
पाया अपना चिर - ध्येय नहीं

क्यों अगजग में परिवर्तन, मिल बनता मिटता रहता कण कण
फिर, व्यर्थ मिला ही क्यों जीवन

चाहे मुझको मत अपनाओ

(1)

प्राण पथिक हूँ मैं युग युग का
आदि अंत तक चला चलूँगा
रूढ़िग्रस्त पथ पर सब चलते
अपनी राह बना मैं लूँगा

जब जब हृदय हताश हो उठे
हिम्मत देते जाओ
चाहे मुझको मत अपनाओ

(2)

मेरी वाणी में अभिशापित
मानवता की चीख भरी है
मेरी झोली नवयुग के
संदेशों की भीख भरी है

नवयुग का निर्माण हो रहा
आओ हाथ बटाओ
चाहे मुझको मत अपनाओ

(3)

कोई भी आघात न ऐसा
जिसको मैंने सहा नहीं है

पथ की विघ्न और बाधाओं
का भय मुझको रहा नहीं है
मेरी तूफ़ानी तरनी के

खेल देखते जाओ
चाहे मुझको मत अपनाओ

(4)

मेरे गीतों के बारे में
कुछ भी गेय अगेय न पूछो
मैं अपने में आज नहीं हूँ
मुझसे मेरा ध्येय न पूछो

कहता हूँ मानव बन मानवता
के हित मिट जाओ
चाहे मुझको मत अपनाओ

(5)

ओ मेरे जीवन के साथी
इस अवसर पर तो मत चूको
रणभेरी बजते ही तुम भी
शंख साथ ही अपना फूंको

अगर नहीं तो आओ मिल कर
मेरे स्वर में गाओ
चाहे मुझको मत अपनाओ

मैं गान करूँ भी तो किसका ?

(1)

मैं गान करूँ भी तो किसका ?

जिनकी अलसाई चितवन पर
लिख देते कवि - जन कविताएँ
पलकों में ही भर सूख गईं
या जिनकी दुर्दिन सरिताएँ

मैं गान करूँ भी तो किसका ?

(2)

अभिमान करूँ भी तो किसका ?

मदमत्त बना देती पल भर
जिसके पग पायल की रुनझुन
या ख़ून पसीना कर अपना
लो बाँट रहा जग को जीवन

अभिमान करूँ भी तो किसका ?

(3)

मैं पान करूँ भी तो किसका ?

जिसको पी मिलता अमरदान
जिसके हित दुनिया दीवानी

पथ की विघ्न और बाधाओं
का भय मुझको रहा नहीं है
मेरी तूफ़ानी तरनी के

खेल देखते जाओ
चाहे मुझको मत अपनाओ

(4)

मेरे गीतों के बारे में
कुछ भी गेय अगेय न पूछो
मैं अपने में आज नहीं हूँ
मुझसे मेरा ध्येय न पूछो

कहता हूँ मानव बन मानवता
के हित मिट जाओ
चाहे मुझको मत अपनाओ

(5)

ओ मेरे जीवन के साथी
इस अवसर पर तो मत चूको
रणभेरी बजते ही तुम भी
शंख साथ ही अपना फूंको

अगर नहीं तो आओ मिलकर
मेरे स्वर में गाओ
चाहे मुझको मत अपनाओ

मैं गान करूँ भी तो किसका ?

(1)

मैं गान करूँ भी तो किसका ?

जिनकी अलसाई चितवन पर
लिख देते कवि - जन कविताएँ
पलकों में ही भर सूख गईं
या जिनकी दुर्दिन सरिताएँ

मैं गान करूँ भी तो किसका ?

(2)

अभिमान करूँ भी तो किसका ?

मदमत्त बना देती पल भर
जिसके पग पायल की रुनझुन
या खून पसीना कर अपना
लो बाँट रहा जग को जीवन

अभिमान करूँ भी तो किसका ?

(3)

मैं पान करूँ भी तो किसका ?

जिसको पी मिलता अमरदान
जिसके हित दुनिया दीवानी

अथवा जिसको पी सकते हैं
शंकर ऐसे औघड़ दानी

मैं पान करूँ भी तो किसका ?

(4)

मैं ध्यान करूँ भी तो किसका ?

जो जगती के देवता बने
जिनकी दुनिया है हरी भरी
अथवा जिनके जर्जर तन पर
रह गई शेष केवल ठठरी

मैं ध्यान करूँ भी तो किसका ?

(5)

सन्मान करूँ भी तो किसका ?

जिनके पथ पर पलकों ने बिछ
सादर स्वागत सत्कार किया
अथवा जिनको दो टुकड़े दे
कुत्ता कह कर दुत्कार दिया

सम्मान करूँ भी तो किसका ?

मैंने कब बाज़ी हारी है

(1)

तुम ने जो सुषमा दिखलाई
तुम ने जो थी आग लगाई

आज जगत् की ज्वाला बन कर
बिखर पड़ी वह चिनगारी है
मैंने कब बाज़ी हारी है

(2)

तब भी प्रलय मचा करता था
तब भी हृदय जला करता था

डरो नहीं तुम तो परिचित हो
यह वाणी विप्लवकारी है
मैंने कब बाज़ी हारी है

(3)

सुख में वाह नहीं करता हूँ
दुख में आह नहीं भरता हूँ

कारण, करना महाकाल से
महासमर की तय्यारी है
मैंने कब बाज़ी हारी है

मेरे स्वर में जीवन भर दो

(1)

ये महल हवाई वैभव के
क्षण-भर में चकनाचूर करो
जिनमें मैं भूला फिरता था
मुझ से वे सपने दूर करो

मेरी आहों के वेगों में मानवता का क्रन्दन भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(2)

इस हरी भरी जगती से जो
ले चिर-अतृप्ति की भूख गए
कारा की काली दीवारों में
जिनके आँसू सूख गए

मेरी मस्तानी तानों में उनका ही अभिनन्दन भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(3)

जो मिट्टी खोद रहे होंगे
ले आज फ़कीरी वेष कहीं
जिनकी लाचारी पर कोई
रोने वाला भी शेष नहीं-

मेरे उर की उच्छ्वासों में उनका नतशिर वंदन भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(4)

युग परिवर्तनकारी पथ का
आरोहण सम्मोहन भर दो
अधरों पर हालाहल, उर में
प्रलयंकर आयोजन भर दो
मेरी बाहों में जगती की ज्वाला का आलिंगन भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(5)

जिन नीवों के निर्माणों में
कितनी लाशों पर लाश ढहीं
युग युग तक शोषण कर फिर भी
बुझ पाई जिनकी प्यास नहीं
उन प्रसादों की ईंटों में जर्जर खंडहर खंडन भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(6)

गायक यह टूटे तारों की
बेसुर वीणा जर्जर कर दो
हाथों में नवनिर्माण, कंठ में
महानाश के स्वर भर दो
विष पी जाऊँ, अमृत उगलूँ, मुझ में सागर-मंथन भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(7)

मधुबाला के पगपायल की
भाती मुझको झंकार नहीं
विप्लव की घड़ियों में सुन पड़ती
मधुपों की गुंजार नहीं
मेरी वीणा में बन्दी की बेड़ी की झन झन झन भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(8)

कितने स्वप्निल अभिसार किए
कितनों को उर में लिपटाए
नकली मदिरा की मस्ती के
मैं ने भी गीत बहुत गाए

प्रेयसि, मेरी निश्वासों में विप्लव के विद्युत कण भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(9)

मत पूछो मुझ से कवि तुमने
क्यों प्रणय तराने बन्द किये
प्रेमालिंगन अधरासव की
मस्ती के गाने बन्द किए

मेरे अधरों पर मेरी ही निर्बलता के दंशन भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

(10)

चाँदी के टुकड़ों में चाहा
जिसने ले लेना मेरा दिल
उसको ही क्षत-विक्षप्त करने
मैं आज छिपाये अनल अनिल

मुझमें तूफ़ानों की हरहर, मारुत का सन सन स्वर भर दो
मेरे स्वर में जीवन भर दो

हाय नहीं यह देखा जाता

(1)

हन्त भूख मानव बैठा
गोबर से दाने बीन रहा है
और झपट कुत्ते के मुँह से
जूठी रोटी छीन रहा है
सांस न बाहर भीतर जाती
और कलेजा मुँह को आता
हाय नहीं यह देखा जाता

(2)

देख रहा आँखों के आगे
कितने जर्जर पीड़ित ऐसे
भूख प्यास से ऊब माँगते
जो विष खाने को ही पैसे
और नही वह भी मिलता है
मानव चीख चीख चिल्लाता
हाय नहीं यह देखा जाता

(3)

भाग्य लूटने वाले को
वह धर्मवान भगवान बनाता
जीवन हाय हराम कर दिया
उसकी जयजयकार मनाता
जिसने सब कुछ छीन लिया
उसको ही वह दाता बतलाता
हाय नहीं यह देखा जाता

(4)

निर्मम शोषक के ही सम्मुख
अपने हाथ पसारा करता
शेष न जिनमें दया हया कुछ
उससे रो रो आहें भरता
बलि बकरे-सा क्रूर कसाई
को अपने पहचान न पाता
हाय नहीं यह देखा जाता

(5)

टेक टेक कर टेढ़ी लकड़ी
पथ पर घूमा करता अन्धा
सुबह शाम चिल्लाया करता
बाबा, दुनिया गोरख धन्धा
खाली हाथ लौटता जब घर
किस्मत ठोंक ठोंक पछताता
हाय नहीं यह देखा जाता

(6)

मानव की छाती पर बैठा
झूम रहा दानव मतवाला
सींग पूँछ से हीन पशु बना
खींच रहा है रिक्शावाला
मुँह से झाग स्वेद तन से
ठोकर खा-खाकर गिरता जाता
हाय नही यह देखा जाता

(7)

जिसके बच्चे दूध दूध रट
बारी बारी स्वर्ग सिधारे
फटे चीथड़ों में लिपटी
बैठी जिसकी रानी मनमारे

छाती पर पत्थर धर पापी
पेट लिए जब मिल को जाता
हाय नहीं यह देखा जाता

(8)

उससे भी भीषण जब मानव
व्याकुल भूख-भूख चिल्लाता
अपने ही बच्चे की रोटी छीन
उदर की ज्वाला बुझाता

बच्चा बेबस रोता रोता
भूखा तड़प तड़प मर जाता
हाय नहीं यह देखा जाता

(9)

हो उठती है घृणा, देखता
जब उसके कुत्सित बाने को
हाथ पैर गल गए, चाटते
खून पीव मिश्रित खाने को

लोग फेर लेते मुख जब
घिघियाकर वह निज कर फैलता
हाय नहीं यह देखा जाता

(10)

अपने ही भाई जिसको नित
थू थू कह कर दूर हटाते
नर-पशु जिसे समझ कुत्ते भी
भोंक भोंक कर दूर भागते

तिरस्कार अपमान घृणा सब
सह वह फिर भी जोता जाता
हाय नहीं यह देखा जाता

विद्रोह करो, विद्रोह करो

(1)

आओ वीरोचित कर्म करो।
मानव हो कुछ तो शर्म करो।
यों कब तक सहते जाओगे, इस परवशता के जीवन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो

(2)

जिसने निज स्वार्थ सदा साधा
जिसने सीमाओं में बाँधा।
आओ उससे, उसकी निर्मित जगती के अणु अणु कण कण से
विद्रोह करो, विद्रोह करो

(3)

मनमानी सहना हमें नहीं।
पशु बन कर रहना हमें नहीं।
विधि के मत्थे पर भाग्य पटक, इस नियति नटी की उलझन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो

(4)

विप्लव गायन गाना होगा।
सुख स्वर्ग यहाँ लाना होगा।
अपने ही पौरुष के बल पर, जर्जर जीवन के क्रन्दन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो

(5)

क्या जीवन व्यर्थ गँवाना है।
कायरता पशु का बाना है
इस निरुत्साह मुर्दा दिल से, अपने तन से, अपने तन से
विद्रोह करो, विद्रोह करो

तब समझूँगा आया वसन्त

जब सजी वसन्ती बाने में
बहनें जौहर गाती होंगी
कातिल की तोपें उधर
इधर नवयुवकों की छाती होंगी
तब समझूँगा आया वसन्त

जब पतझड़ पत्तों सी विनष्ट
बलिदानों की टोली होगी
जब नवविकसित कोंपल कर में
कुंकुम होगा, रोली होगी
तब समझूँगा आया वसन्त

युग युग से पीड़ित मानवता
सुख की साँसें भरती होगी
जब अपने होंगे वन उपवन
जब अपनी यह धरती होगी
तब समझूँगा आया वसन्त

जब विश्व-प्रेम मतवालों के
खूं से पथ पर लाली होगी
जब रक्त बिन्दुओं से सिंचित
उपवन में हरियाली होगी
तब समझूँगा आया वसन्त

जब सब बन्धन कट जाएँगे
परवशता की होली होगी
अनुराग अबीर बिखेर रही
माँ बहनों की झोली होगी
तब समझूँगा आया वसन्त

मज़दूर-किसानों बढ़े चलो,

(1)

अब अन्त हुआ बरबादी का
कुछ काम नहीं नाशादी का
तुम जिसके लिए तरसते थे
दिन दूर नहीं आज़ादी का

दुश्मन का दुर्ग धँसकता है, तुम बढ़े चलो, तुम बढ़े चलो
मज़दूर - किसानों बढ़े चलो

(2)

तुम ने सुख से मुख मोड़ा है
जेलों से नाता जोड़ा है
तुमको दुनिया में डर किसका
जब हँसिया और हथौड़ा है

तुम अपनी हड्डी से नवयुग की नई इमारत गढ़े चलो
मज़दूर - किसानों बढ़े चलो

(3)

तुम गरजो आज प्रलय होगी
शोषक वर्गों की क्षय होगी
दुनिया के कोने कोने से
मज़लूमों की जय जय होगी

अत्याचारी की छाती पर तुम चढ़े चलो तुम चढ़े चलो
मज़दूर - किसानों बढ़े चलो

सुन रहे हो क्रांति की आवाज़

बच नही सकते दग़ा कर
कान में ऊँगली लगा कर
यह विषम ज्वाला जगा कर
ध्वंस होगा तख़्त भू-लुठित तुम्हारा ताज
सुन रहे हो क्रांति की आवाज़

चूस कर जिसको निचोड़ा
रक्त भी जिसका न छोड़ा
वह लिए हँसिया हथौड़ा
कर चुका है शेषफन की कील ढीली आज
सुन रहे हो क्रांति की आवाज़

रक्तहीन विवर्ण रूखा
गाल चिपके अधर सूखा
युग युगों का आज भूखा
देख लेना उलट देगा वह समस्त समाज
सुन रहे हो क्रांति की आवाज़

अब न तुम धमकी दिखाना
अब न उसके पास जाना
अब बदलता है ज़माना
था यही ज़ुल्मी तुम्हारे ज़ुल्म का सब राज
सुन रहे हो क्रांति की आवाज़

बज रहा है विजय बाजा
है यही युग का तक़ाजा
सँभल जाओ अब गिरेगी इन्क़लाबी गाज
सुन रहे हो क्रांति की आवाज़

यह किसका कंकाल पड़ा है

(1)

भरी जवानी में ही इसके
चेहरे पर पड़ गईं झुरियाँ
पीव पिचपिचाती शरीर में
भनन भनन कर रही मक्खियाँ

क्या मानव, इस तरह निराश्रित
धरती पर बेहाल पड़ा है
यह किसका कंकाल पड़ा है

(2)

यह किसके भविष्य की आशा
किस दुखिया का एक सहारा
किस अभागिनी का सुहाग यह
किस मृगनयनी का दृगतारा

किसकी गोदी की शोभा यह
किस-माई का लाल पड़ा है
यह किसका कंकाल पड़ा है

(3)

किसी देव का है प्रकोप यह
या अजगर ने चूस लिया है
या मानव की दानवता ने
इसका जीवन लूट लिया है

यह किसका कंकाल पड़ा है

यह पूंजीवादी समाज के
जुल्मों का जंजाल पड़ा है
यह किसका कंकाल पड़ा है

(4)

पापी पेट पालनें में ही
स्नेह सरसता छली गई है
छाती पर पत्थर धर माँ भी
अभी काम पर चली गई है

जिसका स्नेह-लाड़ला पथ पर
दीन दुखी पामाल पड़ा है
यह किसका कंकाल पड़ा है

(5)

उफ़ कितना भयावना लगता
सजल पुतलियाँ फिरा रहा है
आगे के दो दाँत निकाले
यह हम सब को चिरा रहा है

निश्चय यह शोषक वर्गों का
चिर प्रतिशोधी काल पड़ा है
यह किसका कंकाल पड़ा है

जेल में आती तुम्हारी याद

(1)

प्यार जो तुमने सिखाया
वह यहाँ पर बाँध लाया
प्रीति के बन्दी नहीं करते कभी फ़रियाद
जेल में आती तुम्हारी याद

(2)

बात पर अपनी अड़ा हूँ
सींकचे पकड़े खड़ा हूँ
सकपकाया सा खड़ा है सामने सय्याद
जेल में आती तुम्हारी याद

(3)

विश्व मुझ पर आँख गाड़े
मैं खड़ा छाती उघाड़े
देख जिसको तेग़ कुंठित, कँप रहा जल्लाद
जेल में आती तुम्हारी याद

(4)

दृढ़ दिवालें फोड़ दूँगा
लौह कड़ियाँ तोड़ दूँगा
कर नहीं सकतीं मुझे यह बेड़ियाँ बरबाद
जेल में आती तुम्हारी याद

(5)

सुमन उपवन में खिलेंगे
और फिर हम तुम मिलेंगे
किन्तु जब हो जायगा हिन्दोस्ताँ आज़ाद
जेल में आती तुम्हारी याद

मैं सब कुछ सहनें का आदी

(1)

मैं तूफ़ानों मे खेल चुका
कितनी झंझाएँ झेल चुका

फिर सुख-दुख के झकझोरों से
होगी क्या मेरी बरबादी
मैं सब कुछ सहने का आदी

(2)

तुम जला रहे हो गिन गिन के
मेरे ही नीड़ों के तिनके

आगी-पानी से दूर मगर
मेरी स्मृतियों की आबादी
मैं सब कुछ सहने का आदी

(3)

मेरी उच्छ्वासें वरदानी
मैं ही हूँ मानव बलिदानी

मिल पाएगी मानवता को
मेरे ही स्वर से आज़ादी
मैं सब कुछ सहने का आदी

अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ अपने जीवन-गान

(1)

इस सुषमा का अन्त नहीं है
पतझड़ यहीं वसन्त यहीं है
यहीं कोयलिया कूक कूक कर
कर देती हैरान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(2)

मधु - अभाव में छिपा प्यार है
यहाँ खजाँ में ही बहार है
यहाँ दशहरा और मुहर्रम
दोनों की है शान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(3)

सुख-दुख में ही जग - जीवन है
चिर - वियोग में यहाँ मिलन है
यहाँ विरह का ही होता है
चारों ओर बखान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(4)

यहाँ आह प्रीति छिपी है
यहाँ हार में जीत छिपी है
अमर हो गए यहाँ विछुड़ने
वालों के अरमान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(5)

अभी अभी तय्यार हुआ हूँ
अभी राह पर खड़ा हुआ हूँ
अभी अभी तो साथ लिया है
चलने का सामान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(6)

अभी अभी तो स्वर पाया है
अभी कहाँ मैंने गाया है
निकल पड़ी मेरे उर से
उलटी - सीधी तान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(7)

यद्यपि मंजिल बड़ी दूर है
किन्तु भरा मुझमें सुरूर है
पथ पर मैं न गिरूँगा मुझ में
है इतना अभिमान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(8)

मृत्यु मुझे दुख - भार न होगी
चिता मुझे दरकार न होगी
स्वयं होलिका बन कर मेरे
धधक उठेंगे प्राण
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(9)

अभी अभी समझा है जीवन
किया अभी तक अपना क्रन्दन
यहाँ सभी के हृदय एक है
सुख-दुख एक समान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन-गान

(10)

केवल कल्पित कथा नहीं है
मात्र मानसिक व्यथा नहीं है
उनकी गाथा भूख भूख रट
जो कर गए प्रयाण
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(11)

मधुबाला का प्यार उन्हें क्या ?
स्वप्नों का संसार उन्हें क्या ?
चिर-अभावमय जिसका जीवन
जलता हुआ मसान
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान

(12)

जीवन की यथार्थ परिभाषा
सुनने की यदि है अभिलाषा
तो फिर रखना होगा अपनी
छाती पर पाषाण
अभी कहाँ मैं गा पाया हूँ
अपने जीवन - गान